आचार्य श्री जवाहरलालजी म.सा.

जीवन–तथ्य

जन्म स्थान	:	थांदला, मध्यप्रदेश
जन्म तिथि	:	वि.सं. 1932, कार्तिक शुक्ला चतुर्थी
पिता	:	श्री जीवराजजी कवाड़
माता	:	श्रीमती नाथीबाई
दीक्षा स्थान	:	लिमड़ी (म.प्र.)
दीक्षा तिथि	:	वि.सं. 1948, माघ शुक्ला द्वितीया
युवाचार्य पद स्थान	:	रतलाम (म.प्र.)
युवाचार्य पद तिथि	:	वि.सं. 1976, चैत्र कृष्णा नवमी
आचार्य पद स्थान	:	जैतारण (राजस्थान)
आचार्य पद तिथि	:	वि.सं. 1976, आषाढ शुक्ला तृतीया
स्वर्गवास स्थान	:	भीनासर (राज.)
स्वर्गवास तिथि	:	वि.सं. 2000, आषाढ शुक्ला अष्टमी

आचार्यश्री जवाहर–ज्योतिकण

+ विपत्तियों के तमिस्र गुफाओं के पार जिसने संयम–साधना का राजमार्ग स्वीकार किया था।
+ ज्ञानार्जन की अतृप्त लालसा ने जिनके भीतर ज्ञान का अभिनव आलोक निरंतर अभिवर्द्धित किया।
+ संयमीय साधना के साथ वैचारिक क्रांति का शंखनाद कर जिसने भू–मण्डल को चमत्कृत कर दिया।
+ उत्सूत्र सिद्धांतों का उन्मूलन करने, आगम–सम्मत सिद्धांतों की प्रतिष्ठापना करने के लिए जिसने शास्त्रार्थों में विजयश्री प्राप्त की।
+ परतंत्र भारत को स्वतंत्र बनाने के लिए जिसने गांव–गांव, नगर–नगर पाद–विहार कर अपने तेजस्वी प्रवचनों द्वारा जन–जन के मन को जागृत किया।
+ शुद्ध खादी के परिवेश में खादी–अभियान चलाकर जिसने जन–मानस में खादी–धारण करने की भावना उत्पन्न कर दी।
+ अल्पारंभ–महारंभ जैसी अनेकों पेचीदी समस्याओं का जिसने अपनी प्रखर प्रतिभा द्वारा आगम–सम्मत सचोट समाधान प्रस्तुत किया।
+ स्थानकवासी समाज के लिये जिसने अजमेर सम्मेलन में गहरे चिंतन–मनन के साथ प्रभावशाली योजना प्रस्तुत की।
+ महात्मा गांधी, विनोबा भावे, लोकमान्य तिलक, सरदार वल्लभ भाई पटेल, पं. श्री जवाहर लाल नेहरू आदि राष्ट्रीय नेताओं ने जिनके सचोट प्रवचनों का समय–समय पर लाभ उठाया।
+ जैन व जैनेतर समाज जिसे श्रद्धा से अपना पूजनीय स्वीकार करता था।
+ सत्य सिद्धांतों की सुरक्षा के लिये जो निडरता एवं निर्भीकता के साथ भू–मंडल पर विचरण करते थे।

अर्थ–सहयोगी परिचय

संघ–समर्पित, शासन–गौरव, समाजसेवी
श्री उमरावसिंहजी ओस्तवाल

संघ–सेवा का लाभ बहुत ही बिरले व्यक्तियों को मिलता है और जो संघ के प्रति, शासन के प्रति अपनी दृढ़ आस्था, श्रद्धा एवं समर्पणा में संघ–आयामों को जन–जन तक पहुंचाने का भागीरथी कार्य करते हैं वे और उनका जीवन वास्तव में धन्य है और ऐसे ही व्यक्तित्व के धनी हैं श्री अ.भा.सा. जैन संघ के राष्ट्रीय अध्यक्ष श्री उमरावसिंहजी ओस्तवाल।

बडी सादड़ी संघ अधिवेशन के अवसर पर संघ ने आपके संघ–सेवा के उत्कृष्ट कार्यों को ध्यान में रखते हुए संघ के राष्ट्रीय अध्यक्ष पद पर मनोनयन कर आपके कृत कार्यों का सम्मान किया। अध्यक्ष पद का भार संभालते ही सर्वप्रथम आचार्यश्री नानेश ध्यान केन्द्र का उद्‌घाटन करवाकर ज्ञान–चेतना में नवकीर्तिमान स्थापित किया। आपके कार्यकाल में आपने संघ में नवचेतना जाग्रत करने हेतु सम्पूर्ण भारतवर्ष का प्रवास कर संघ विकास व विस्तार हेतु स्थानीय संघों को विशेष प्रेरणा प्रदान की। गतवर्ष चातुर्मास में आपने साधुमार्गी सम्प्रदाय के 64 चातुर्मास स्थलों पर चारित्र आत्माओं के दर्शन प्राप्त कर अपने जीवन को धन्य बनाया।

श्रमणोपासक पत्रिका के विकास हेतु आपके कार्यकाल में प्रारम्भ श्रमणोपासक अर्थ–सहयोगी योजना से विकास यात्रा का अभिनव शुभारम्भ हुआ है। आपका मानना है कि स्वधर्मी–सहयोग हमारे जीवन की अमूल्य धरोहर है। इसी भावना को साकार रूप प्रदान करने हेतु आपने ब्याजमुक्त ऋण योजना व्यापक स्तर पर प्रारम्भ की, जिससे अनेक लोग लाभान्वित हो रहे हैं।

अनुक्रम

विषय प्रवेश

आत्मा अनादि काल से सुखाभिलाषी होकर सुख की खोज मे इतस्ततः परिभ्रमण करता हुआ स्वर्ग, मर्त्य, पाताल के सभी स्थानो को एक बार नही किन्तु अनेक बार स्पर्श कर आया है और जिन्हे आत्मा सुख का साधन मान रहा है, उन रत्नो, आभूषणो, महलो एव अप्सराओ का स्वामी बन कर उनका उपभोग भी कर आया है। फिर भी इस आत्मा को कही भी सुख नही मिला, किन्तु वे सुख के साधन, भोगे हुए भोग दुःख बढाने वाले ही हुए तथा हो रहे है। कवि ठीक कहता है, कि–

न संसारोत्पन्न चरितमनुपष्याामि कुशलं।
विपाकः पुण्यानां जनयति भयं मे विमृशतः।।
महद्भिः पुण्यौघैश्चिर परिग्रहीताश्च विषया।
महन्तो जायन्ते व्यसनमिव दातुं विषयिणाम्।।

से बचाने के लिए शास्त्रकारो ने तीन गुणव्रत और चार शिक्षा व्रत बताये है। तीन गुणव्रत पाच अणुव्रतो मे शक्ति सचार करते है, विशेषता उत्पन्न करते है, उनके पालन मे होने वाली कठिनाइयो को दूर करते है और मूल अणुव्रतो को निर्मल रखते है।

अणुव्रतो की सहायता के लिए बताये गये तीन गुणव्रतो मे वृत्ति सकोच को ही विशेषता दी गई है। जब तक गमनागमन कम न किया जावे, उपभोग–परिभोग की मर्यादा न की जावे, आजीविका के लिए की जाने वाली प्रवृत्ति के विषय मे औचित्य–अनौचित्य का विवेक करके अनुचित प्रवृत्ति न त्याग दी जावे, तब तक धारण किये हुए अणुव्रतो का पालन करने मे कठिनाइयो का उपस्थित होना स्वाभाविक ही है।

दिक्परिमाण व्रत

व्रत का स्वरूप

तीन गुणव्रतो मे से प्रथम गुणव्रत और श्रावक के बारह व्रतो मे से छठे व्रत का नाम दिक् परिमाण व्रत है। दिक् का अर्थ है – दिशा। जैन शास्त्रानुसार दिशाएँ तीन है यथा–

दिसिव्वए तिविहे पण्णत्ते तंजहा–उड्ढ, अहेयं, तिरियं।

अर्थात – दिक्व्रत तीन तरह का है, ऊर्ध्व दिक् व्रत, अध दिक् व्रत और तिर्यक् दिक् व्रत।

अपने से ऊपर की ओर को ऊर्ध्व दिशा कहते है। नीचे की ओर को अधो दिशा कहते है और इन दोनो के बीच की ओर को तिर्यक् दिशा कहते है। तिर्यक् दिशा के पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण ये चार भेद है, जो चार दिशाओ के नाम से प्रसिद्ध है। इन चारो दिशाओ के सिवा चार विदिशाएँ भी है, जिनके नाम ईशान, आग्नेय, नैऋत्य और वायव्य है। जिस ओर सूर्य निकलता है, उस ओर मुह करके खडा रहने पर सामने की ओर पूर्व दिशा होगी, पीठ की ओर पश्चिम दिशा होगी, बाये हाथ की ओर उत्तर और दाहिने हाथ की ओर दक्षिण दिशा होगी। इसी तरह सिर की ओर ऊर्ध्व दिशा तथा पैर के नीचे की ओर अध. (नीची) दिशा होगी। उत्तर तथा पूर्व दिशा के बीच के कोण को ईशान कोण कहा जाता है। पूर्व तथा दक्षिण दिशा के बीच के कोण को आग्नेय कोण कहते है। दक्षिण और पश्चिम दिशा के बीच के कोण को नैऋत्य कोण तथा पश्चिम और उत्तर दिशा के बीच के कोण को वायव्य कोण कहा जाता है। ये चारो कोण विदिशा कहलाते है और विदिशाओं का समावेश दिशाओ मे भी हो जाता है।

दिक्परिमाण व्रत

व्रत का स्वरूप

तीन गुणव्रतो मे से प्रथम गुणव्रत और श्रावक के बारह व्रतों में से छठे व्रत का नाम दिक् परिमाण व्रत है। दिक् का अर्थ है – दिशा। जैन शास्त्रानुसार दिशाएँ तीन है यथा–

दिसिव्वए तिविहे पण्णत्ते तंजहा–उड्ढ, अहेयं, तिरियं।

अर्थात – दिक्व्रत तीन तरह का है, ऊर्ध्व दिक् व्रत, अधः दिक् व्रत और तिर्यक् दिक् व्रत।

अपने से ऊपर की ओर को ऊर्ध्व दिशा कहते है। नीचे की ओर को अधो दिशा कहते है और इन दोनों के बीच की ओर को तिर्यक् दिशा कहते है। तिर्यक् दिशा के पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण ये चार भेद है, जो चार दिशाओ के नाम से प्रसिद्ध है। इन चारो दिशाओं के सिवा चार विदिशाएँ भी है, जिनके नाम ईशान, आग्नेय, नैऋत्य और वायव्य है। जिस ओर सूर्य निकलता है, उस ओर मुह करके खडा रहने पर सामने की ओर पूर्व दिशा होगी, पीठ की ओर पश्चिम दिशा होगी, बायें हाथ की ओर उत्तर और दाहिने हाथ की ओर दक्षिण दिशा होगी। इसी तरह सिर की ओर ऊर्ध्व दिशा तथा पैर के नीचे की ओर अधः (नीची) दिशा होगी। उत्तर तथा पूर्व दिशा के बीच के कोण को ईशान कोण कहा जाता है। पूर्व तथा दक्षिण दिशा के बीच के कोण को आग्नेय कोण कहते है। दक्षिण और पश्चिम दिशा के बीच के कोण को नैऋत्य कोण तथा पश्चिम और उत्तर दिशा के बीच के कोण का वायव्य कोण कहा जाता है। ये चारो कोण विदिशा कहलाते है और विदिशाओ का समावेश दिशाओ मे भी हो जाता है।

इन बताई गई दिशाओ मे गमनागमन करने (जाने–आने) के सबध मे जो मर्यादा की जाती है, जो निश्चय किया जाता है, कि मै अमुक स्थान

स्वीकार करने पर श्रावक–स्वीकृत अहिसाव्रत की मर्यादा विस्तृत तथा आगार मे रखी गई आरम्भजा हिसा का क्षेत्र परिमित हो जाता है।

श्रावक का दूसरा मूलव्रत स्थूल सत्य है। इस व्रत का रूप भी पहले बताया जा चुका है। इस व्रत को स्वीकार करने वाला श्रावक स्थूल झूठ का तो सभी क्षेत्र के लिए त्याग करता है, परन्तु गृहस्थावस्था के कारण वह जिस सूक्ष्म झूठ का त्याग नही कर सका है, वह सूक्ष्म झूठ सभी क्षेत्र के लिए खुला हुआ है। आगार मे रहे हुए सूक्ष्म झूठ के विषय मे क्षेत्र की कोई मर्यादा नही है। दिक्परिमाण–व्रत स्वीकार करने पर इस विषय की मर्यादा हो जाती है अर्थात् जो सूक्ष्म झूठ नही त्यागा गया है, वह सूक्ष्म झूठ भी केवल उसी क्षेत्र के लिए शेष रह जाता है। जो क्षेत्र गमनागमन के लिए दिक्–परिमाण–व्रत मे रखा गया है। उसके सिवा शेष क्षेत्र मे जाकर सूक्ष्म झूठ बोलने का त्याग हो जाता है।

श्रावक का तीसरा मूलव्रत स्थूल चोरी से निवृत्त होना है। श्रावक स्थूल चोरी का त्याग तो सभी क्षेत्र के लिए करता है परन्तु सूक्ष्म चोरी सभी क्षेत्र के लिए खुली हुई है। दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करने पर वह सूक्ष्म चोरी भी सीमित होकर केवल उतने ही क्षेत्र के लिए रह जाती है, जितना क्षेत्र दिक्परिमाण व्रत मे गमनागमन के लिए रखा गया है।

गमनागमन का परिमाण कोस, मील, हाथ, फुट, इच के रूप मे भी कर सकता है और इस तरह भी कर सकता है कि मै अमुक दिशा मे अमुक देश, प्रदेश, नगर, ग्राम, पहाड, नदी, वन आदि से आगे नही जाऊगा। अथवा इस तरह भी कर सकता है, कि मै माने हुए अमुक केन्द्र से अमुक दिशा मे इतने दिन या इतने समय मे पैदल अथवा अमुक वाहन से जितनी दूर तक जा सकू उससे आगे नही जाऊगा। इस प्रकार जिसकी जैसी इच्छा हो, वह उस तरह से दिक्परिमाण व्रत स्वीकार कर सकता है, लेकिन यह व्रत स्वीकार करते हुए जो व्यक्ति गमनागमन की सीमा जितनी भी कम रखेगा, उसका व्रत उतना ही अधिक प्रशस्त होगा और उसके मूल व्रतो को भी अधिक लाभ पहुचेगा। इसलिए जहां तक सम्भव हो, दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करते हुए मर्यादा मे गमनागमन का क्षेत्र कम ही रखना अच्छा है।

दिक्–परिमाण–व्रत स्वीकार करते हुए, अपनी स्थिति, आवश्यकता तथा शक्ति का विचार अवश्य कर लेना चाहिए। और जीवन–निर्वाह के लिए जितना क्षेत्र गमनागमन के लिए रखना आवश्यक हो, उतने क्षेत्र के सिवा शेष क्षेत्र मे गमनागमन करने का त्याग करना चाहिए। केवल लालसावश गमनागमन के लिए अधिक क्षेत्र सीमा मे रखना उचित नही है।

दिक्–परिमाण व्रत जीवन भर के लिए ही स्वीकार किया जाता है। केवल अहो रात्रि या कम समय के लिए की गई गमनागमन की मर्यादा की गणना दसवे व्रत मे होगी।

उपभोग–परिभोग–परिमाण व्रत

तीन गुण व्रत मे से दूसरा और श्रावक के बारह व्रतो मे से सातवा व्रत उपभोग–परिभोग–परिमाण व्रत है। दिक्परिमाण व्रत धारण करने के पश्चात् इस व्रत को धारण करने की क्या आवश्यकता है ? यह बताने के लिए कहा गया है, कि पाच मूल व्रत धारण करने वाले श्रावक के लिए, उन व्रतो की रक्षा एव उनकी वृद्धि के उद्देश्य से, वृत्ति का सकोच करना आवश्यक है। वृत्ति का सकोच करने के लिए ही दिक्–परिमाण–व्रत स्वीकार किया जाता है, लेकिन इस व्रत के द्वारा मर्यादित्त क्षेत्र के बाहर का क्षेत्र एव वहा के पदार्थादि से ही निवृत्ति होती है। मर्यादित्त क्षेत्र मे रहे हुए पदार्थों का उपभोग–परिभोग उसके लिए सर्वथा खुला हुआ है। मर्यादा क्षेत्र मे रहे हुए पदार्थो के उपभोग–परिभोग की कोई सीमा–मर्यादा नही है, जिससे जीवन अनियमित रहता है और जिसका जीवन अनियमित है, उसके मूल व्रत भी निर्मल नही रह सकते। इस बात को दृष्टि मे रख कर ही यह सातवा व्रत बताया गया है। इस व्रत के स्वीकार करने पर छठे व्रत द्वारा मर्यादित क्षेत्र मे रहे हुए पदार्थो के उपभोग- परिभोग की मर्यादा हो जाती है और इस प्रकार वृत्ति का सकोच होता है।

साधारणतया श्रावक का खान–पान सादा और सात्विक ही होना चाहिए। इस उपभोग परिभोग परिमाण व्रत का उद्देश्य भी यही है कि श्रावक ऐसा ही भोजन, पानी अपने काम मे ले जो सादा, सात्विक और जीवन–निर्वाह के लिए आवश्यक हो। तथा ऐसा भोजन, पानी त्याग दे, जो विकारी और सात्विक प्रकृति का नाश करने वाला हो। सातवा व्रत स्वीकार करने वाले श्रावक को यह बात दृष्टि मे रख कर ही खान–पान–विषयक मर्यादा करनी चाहिए । और जो लोग एक दम से स्वाद के लिए किया जाने वाला या सचित्त खान–पान नही त्याग करते, उनको अपनी शक्ति अनुसार मर्यादा करके अपनी असीम लालसा सीमित कर देनी चाहिए। लेकिन ऐसे श्रावक का भी ध्येय यही रहना चाहिए, कि मै स्वाद के लिए किया जाने वाला या सचित्त खान–पान का पूर्ण त्यागी बनू । और इस प्रकार इस सातवे व्रत का उद्देश्य पूर्ण करू।

खान–पान मे आने वाले पदार्थो की तरह उन दूसरे पदार्थों के विषय मे भी मर्यादा करनी चाहिए, जो उपभोग मे आते है। इसी तरह परिभोग मे आने वाले पदार्थो के लिए भी यह मर्यादा करनी चाहिए, कि मै अमुक अमुक परिभोग वस्तुओ के सिवा दूसरी वस्तुए परिभोग मे न लूगा। इस प्रकार की जाने वाली मर्यादा मे केवल उन्ही वस्तुओ की छूट रखना [illegible] परिभोग जीवन–रक्षा के लिए अनिवार्य है।

उनको साफ करने के लिए दन्तधावन किया जाता है। उस दन्तधावन से सबधित पदार्थों के विषय मे मर्यादा करना दन्तवण विहि—परिमाण कहलाता है।

(3) फल विहि परिमाण :– दातुन करने के पश्चात् मस्तक और बालो को स्वच्छ तथा शीतल किया जाता है। ऐसा करने के लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है उनके सबध मे मर्यादा करना फलविहि परिमाण कहा जाता है।

(4) अभ्यंगणविहि परिमाण :– त्वचा सबधी विकारो को दूर करने और रक्त को सभी अवयवो मे पूरी तरह सचारित करने के लिए जिन तैलादि द्रव्यो का शरीर पर मर्दन किया जाता है, उन द्रव्यो की मर्यादा करना अभ्यगणविहि परिमाण है।

उपभोग न करना चाहिए। मद्य और मांस महा–विगय (बहुत ही विकृति करने वाले) है। इनसे बुद्धि भ्रष्ट होती है और ये त्रस जीवो की घात से उत्पन्न होते है। अतः ये श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य है।

(17) सागविहि परिमाण :– साग मे उन पदार्थो की गणना है जो भोजन के साथ व्यंजन रूप से खाये जाते है। पन्द्रहवे बोल मे उन दालो की ही प्रधानता है जो अन्न से बनती है। शेष सूखे या हरे साग की गणना शाक मे है। शाक विषयक मर्यादा को साग–विहि परिमाण कहते है।

(18) माहुरविहि परिमाण :– इस बोल मे मधुर फलो की मर्यादा करना बताया है। आम, जामुन, केला, अनार आदि हरे फल और दाख, बादाम, पिश्ता आदि सूखे फलो की मर्यादा करना माहुरविहि परिमाण है।

(19) जीमण–विहि परिमाण :– इसमे उन पदार्थो की मर्यादा करना कहा गया है जो भोजन के रूप मे क्षुधा–निवारणार्थ खाये जाते है। जैसे रोटी, बाटी, पूरी, पराठे आदि।

करना है कि जिससे अधिक कम करना व्रत लेने वाले श्रावक के लिए सम्भव नही है। यह बात दूसरी है कि कोई श्रावक एक दम से अपनी आवश्यकताए न घटा सके और इस कारण उसे व्रत की मर्यादा साधारण से अधिक रखनी पड़े, फिर भी उसका ध्येय तो यही होना चाहिये कि मै अपना जीवन बिल्कुल ही सादा बनाऊँ और अपनी आवश्यकताए बहुत ही कम कर दू। जो श्रावक एक दम से आवश्यकताओ को नही घटा सका है तथा अपना जीवन पूरी तरह सादा नही बना सका है, वह यदि इस ओर धीरे–धीरे बढ़ता है तो कोई हर्ज नही, लेकिन उसको यह लक्ष्य विस्मृत न करना चाहिये।

श्रावक का यह कर्त्तव्य है, कि जिस तरह वह स्वय जीवित रहना चाहता है, उसी तरह दूसरे को भी जीवित रहने दे। इस कर्त्तव्य का पालन वही कर सकता है, जिसकी आवश्यकताए साधारण है, बढ़ी हुई नही है। जिसकी आवश्यकताए बढ़ी हुई है वह अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए दूसरे को कष्ट मे डाले, अथवा उसकी आवश्यकताओं के कारण दूसरे को

स्वाद–लोलुप लोग स्वाद के लिए अधिक खा–पी कर अपना जीवन तक भी नष्ट कर डालते है। इसके लिए रोम के एक बादशाह की बात प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि रोम का एक बादशाह स्वादिष्ट पदार्थ खाने–पीने का बहुत शौकीन था। वह अपने लिए अनेक प्रकार के सुस्वादु भोज्य पदार्थ बनवा कर खाता था। खाने के पश्चात् वह ऐसी औषध खाता, जिससे वमन हो जाता और फिर खाने के लिए पेट खाली हो जाता। पेट खाली होने पर वह फिर खाता और फिर वमन करता। वह एक दिन मे ऐसा कई–कई बार किया करता था। परिणाम यह हुआ कि उसे क्षय रोग हो गया ओर वह जल्दी मर गया।

माता-पिता भी सुने। अर्थात् जिस तरह अंग्रेज लोग भारतीयो पर जबर्दस्ती करते है, उसी तरह माता-पिता बालको पर जबर्दस्ती करते है।

मतलब यह है कि भोजन और वस्त्र मे सादगी का न होना प्रत्येक दृष्टि से हानिप्रद है। जो सादगी से जितना दूर रहता है और फैशन को जितना अपनाता है वह दूसरे लोगो को उतना ही अधिक दुःख मे डालता है। भारत के लोगो की दैनिक आय औसतन डेढ़ या पौने दो आने है। इसलिए जो व्यक्ति जितना अधिक खर्च करता है, वह उतने ही अधिक लोगो को भोजन-वस्त्र से वंचित रखता है। जैसे नौ भारतीयो को दैनिक एक रुपया मिलता है। यानी नौ आदमियो के हिस्से एक रुपया आया है। वह एक रुपया ही उन नव-आदमियो के जीवन-निर्वाह का साधन है। यदि उनमे से कोई एक आदमी बुद्धिबल, शारीरिक बल या द्रव्य बल से उस एक रुपये को स्वयं अकेला ही हड़प लेता है, आप अकेला ही एक दिन मे एक रुपया खर्च कर

परिमाण–व्रत, मूलव्रतो मे गुण उत्पन्न करके उन्हे देदीप्यमान बनाते हैं। उदाहरण के लिए एक आदमी आम्रफल खाता है और दूसरा आदमी आम–फल खाने का त्यागी है। इन दोनो मे से जिसने आम्रफल खाना त्याग दिया है, उसको यह विचारने की आवश्यकता ही न रहेगी कि इस वर्ष आम की फसल कैसी है? आम का क्या भाव है? अथवा बाजार मे आम आते है या नही ? इस प्रकार वह आम–विषयक विचारो एव सकल्प–विकल्प आदि के पाप से बचा रहेगा। इसके विरुद्ध जो आम्रफल खाता है, उसको आम सबधी अनेक विचार होगे, वह आम–सबधी चिन्ताओ की परम्परा से घिरा रहेगा और पाप का भागी बनता रहेगा। उपभोग–परिभोग–परिमाण–व्रत स्वीकार करने और न करने वाले मे प्रत्येक पदार्थ के सबध मे ऐसा ही अन्तर रहता है। जो उपभोग–परिभोग–परिमाण–व्रत स्वीकार कर लेता है, उसकी आत्मा चिन्ताओ एव पाप से बहुत कुछ मुक्त रहती है, और उसे शान्ति का अनुभव होता है। इस प्रकार उपभोग–परिभोग–परिमाणव्रत स्वीकार करने पर मूलव्रतो मे गुण उत्पन्न होता है तथा उनमे प्रशस्तता आती है।

है, लेकिन हरा दोना सचित्त है, इसलिए इस तरह का खाना अतिचार है। खाता तो आम्रफल का निकाला हुआ रस है जो अचित्त है लेकिन उसके साथ सचित्त गुठली भी है, तो ऐसा रस खाना सचित्त प्रतिबद्धाहार अतिचार है।

(3) तीसरा अतिचार 'अप्पउल्लि ओसहि भक्खणया' अतिचार है। जो वस्तु पूर्ण पक्च नही है, यानी जो पूरी तरह पकी हुई नही है और जिसे कच्ची भी नही कह सकते । ऐसी अर्द्धपक्च चीज खाना तीसरा अतिचार है। यद्यपि ऐसी चीज सचित्त नही है, फिर भी अर्द्ध पकी होने के कारण मिश्र मानी जाती है । और ऐसी चीज शकास्पद तथा हानि करने वाली होती है, इसलिए ऐसी चीज का खाना अतिचार है।

कई वस्तुएँ या तो पूरी तरह पक जाने पर ही हानि न करने वाली होती है, या पूरी तरह कच्ची रहने पर ही। जो वस्तु न तो पूरी तरह पकी हुई है, न पूरी तरह कच्ची है, वह वस्तु शरीर के लिए भी हानि करने वाली होती है। इसलिए भी ऐसी चीजे न खानी चाहिए।

(4) चौथा अतिचार दुप्पोलिओसहि भक्खणया है। जो वस्तु पकी हुई तो है, परन्तु बहुत अधिक पक गई है और पक कर बिगड़ गई है, अथवा जो बुरी तरह से पकायी गई है, जिसे पकाने की रीति घृणित है, ऐसी वस्तु का खाना दुप्पोलि ओसहि भक्खणया अतिचार है। श्रावक को ऐसी वस्तु न खानी चाहिए।

विद्यापीठ, भीनासर की स्थापना हुई। संस्था जवाहर-साहित्य को लागत मूल्य पर जन-जन को सुलभ करा रही है और पण्डित शोभाचन्द्रजी भारिल्ल के सम्पादकत्व में सेठजी ने 33 जवाहर किरणावलियों का प्रकाशन कर एक उल्लेखनीय कार्य किया है। बाद में संस्था की स्वर्णजयन्ती के पावन अवसर पर श्री बालचन्दजी सेठिया व श्री खेमचन्दजी छल्लाणी के अथक प्रयासों से किरणावलियों की संख्या बढाकर 53 कर दी गई। आज यह सैट प्राय: बिक जाने पर श्री जवाहर विद्यापीठ मे यह निर्णय किया गया कि किरणावलियों को नया रूप दिया जावे। इसके लिए संस्था के सहमंत्री श्री तोलाराम बोथरा ने परिश्रम करके विषय-अनुसार कई किरणावलियों को एक साथ समाहित किया और पुन: सभी किरणावलियों को 32 किरणों में प्रकाशित करने का निर्णय किया गया।

ज्योतिर्धर श्री जवाहराचार्यजी म.सा. के साहित्य के प्रचार-प्रसार में जवाहर विद्यापीठ, भीनासर की पहल को सार्थक और भारत तथा विश्वव्यापी बनाने में श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर की महती भूमिका रही। संघ ने अपने राष्ट्रव्यापी प्रभावी संगठन और कार्यकर्ताओं के बल पर जवाहर किरणावलियों के प्रचार-प्रसार और विक्रय-प्रबन्धन में अप्रतिम योगदान प्रदान किया है। आज संघ के प्रयासों से यह जीवन-निर्माणकारी साहित्य जैन-जैनेतर ही नहीं, अपितु विश्व धरोहर बन चुका है। संघ के इस योगदान के प्रति हम आभारी हैं।

धर्मनिष्ठ-सुश्राविका श्रीमती राजकुंवर बाई मालू धर्मपत्नी स्व. डालचन्दजी मालू द्वारा आरम्भ में समस्त जवाहर-साहित्य-प्रकाशन के लिए 60,000 रु. एक साथ प्रदान किये गये थे जिससे पूर्व में लगभग सभी किरणावलियाँ उनके सौजन्य से प्रकाशित की गई थीं। सत्साहित्य-प्रकाशन के लिए बहिनश्री की अनन्य निष्ठा चिरस्मरणीय रहेगी।

प्रस्तुत किरणावली का पिछला संस्करण श्रीमान् धीरजकुमारजी बांठिया, भीनासर के सौजन्य से प्रकाशित किया गया और प्रस्तुत किरण 23 (गृहस्थ धर्म भाग-3) के अर्थ-सहयोगी श्रीमान् उमरावसिंहजी ओस्तवाल हैं। संस्था सभी अर्थ-सहयोगियों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करती है।

निवेदक

सुमतिलाल बांठिया
मंत्री

आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा.

1. देश मालवा गल गम्भीर उपने वीर जवाहर धीर
2. प्रभु चरणों की नौका में
3. तृतीयाचार्य का आशीर्वाद एवं ज्ञानाभ्यास प्रारम्भ
4. नई शैली
5. मैं उदयपुर के लिए जवाहरात की पेटी भेज दूंगा
6. जोधपुर का उत्साही चातुर्मास, दयादान के प्रचार का शंखनाद
7. जनकल्याण की गंगा बहाते चले
8. कामधेनु की तरह वरदायिनी बने कॉन्फ्रेंस
9. धर्म का आधार समाज–सुधार
10. महत्त्व पदार्थ का नहीं, भावना का है
11. दक्षिण प्रवास में राष्ट्रीय जागरण की क्रांतिकारी धारा
12. वैतनिक पण्डितों द्वारा अध्ययन प्रारम्भ
13. युवाचार्य पद महोत्सव में सहज विनम्रता के दर्शन
14. आपश्री का आचार्यकाल–अज्ञान–निवारण के अभियान से आरम्भ
15. लोहे से सोना बनाने के बाद पारसमणि बिछुड़ ही जाती है
16. रोग का आक्रमण
17. राष्ट्रीय विचारों का प्रवल पोषण एवं धर्म–सिद्धांतों का नव विश्लेषण
18. थली प्रदेश की ओर प्रस्थान तथा 'सद्धर्ममंडन' एवं 'अनुकम्पाविचार' की रचना
19. देश की राजधानी दिल्ली में अहिंसात्मक स्वातंत्र्य–आंदोलन को सम्बल

"हुक्म संघ के आचार्य"

1. आचार्य श्री हुक्मीचंदजी म.सा. – दीक्षा वि.स. 1870, स्वर्गवास वि.स. 1917
   ज्ञान-सम्मत क्रियोद्धारक, साधुमार्गी परम्परा के आसन्न उपकारी।
2. आचार्य श्री शिवलालजी म.सा. – दीक्षा वि.स. 1891, स्वर्गवास वि.स. 1933
   प्रतिभा–सम्पन्न प्रकाण्ड विद्वान, परम तपस्वी, महान शिवपथानुयायी।
3. आचार्य श्री उदय सागरजी म.सा. – दीक्षा 1918, स्वर्गवास वि.स. 1954
   विलक्षण प्रतिभा के धनी, वादीमान–मर्दक, विरक्तों के आदर्श विलक्षण।
4. आचार्य श्री चौथमलजी म.सा. – दीक्षा 1909, स्वर्गवास वि.स. 1957
   महान क्रियावान, सागर सम गंभीर, संयम के सशक्त पालक, शांत, दांत, निरहंकारी, निर्ग्रन्थ–शिरोमणि।
5. आचार्य श्री श्रीलालजी म.सा. – दीक्षा 1944, स्वर्गवास वि.स. 1977
   सुरा–सुरेन्द्र–दुर्जय कामविजेता, अद्भुत स्मृति के धारक, जीव–दया के प्राण।
6. आचार्य श्री जवाहरलालजी म.सा. – दीक्षा 1947, स्वर्गवास वि.स. 2000
   ज्योतिर्धर, महान क्रांतिकारी, क्रांतदृष्टा, युगपुरुष।
7. आचार्य श्री गणेशीलालजी म.सा. – दीक्षा 1962, स्वर्गवास वि.स. 2019
   शांत क्रांति के जन्मदाता, सरलता की सजीव मूर्ति।
8. आचार्य श्री नानालालजी म.सा. – दीक्षा 1996, स्वर्गवास वि.स. 2056

गौरव का विषय भी है। भावी पीढी संस्कारित एवं धार्मिक भावों से ओत-प्रोत हो, इस हेतु धार्मिक पाठशालाओं की भी विस्तृत श्रृंखला प्रारम्भ कर इस आयाम की महत्ता को विशेष स्थान दिया गया है।

धर्म-आराधना में प्रमुख रूप से सहायक समता भवन की निर्माण प्रक्रिया को विस्तृत व व्यापक बनाकर सम्पूर्ण देशभर में इनकी निर्माण प्रक्रिया को अनूठे रूप से प्रारम्भ किया गया है। आप ने धार्मिक क्षेत्र के साथ-साथ सामाजिक क्षेत्र में भी अपनी विशिष्ट योग्यता से ख्याति प्राप्त की है; फलस्वरूप भारत सरकार द्वारा आप इन्दिरा गांधी प्रियदर्शिनी अवार्ड, राजरथान सरकार द्वारा भामाशाह अवार्ड, भारत जैन महामण्डल द्वारा पुरस्कार, भायन्दर गौरव अलंकरण आदि से सम्मानित हो चुके हैं। आपके धर्मनिष्ठ परिवार में आपकी धर्मपत्नी श्रीमती आशादेवी ओस्तवाल एवं सुपुत्र श्री कुलदीपजी-श्रीमती शशि ओस्तवाल, सुपुत्री द्वय श्रीमती किरण-श्री शक्रेन्द्रजी छाजेड एवं श्रीमती निर्मला-श्री राकेशजी सिंघवी निरन्तर आपके कार्यों को गति प्रदान करने में संलग्न हैं। आपके कार्यों एवं प्रकल्पों की लम्बी श्रृंखला है जिन्हें संक्षिप्त में यहां समेटा गया है।

तरह विषय–सुख के साधनो मे दुःख बता कर ज्ञानी महापुरुष कहते हैं कि—हे आत्मा! यदि तुझे सच्चे और वास्तविक सुख की चाह है, तो जिनमे तूने सुख मान रखा है, उन विषय–सुख के साधनो से अपना ममत्व हटा, उनकी ओर से त्याग–भावना स्वीकार कर। जब तुझमे ऐसी त्याग–भावना होगी, और तू विषय–सुख के साधनो को त्यागता जाएगा, तब ही तुझे सुख का अनुभव होगा।

ऊपर बताई गई त्याग–भावना को आचरण मे लाने के लिए शास्त्रकारो ने दो मार्गों का विधान किया है। पहला मार्ग है सासारिक पदार्थों अथवा वास्तविक सुख प्राप्त होने के बाधक कारणो का सर्वशः त्याग और दूसरा मार्ग है आशिक अथवा देश से त्याग। कई व्यक्ति ऐसे होते है कि उन्होने जिनको हेय मान लिया है उन कार्यों या पदार्थों को अविलम्ब पूरी तरह त्याग देते है। इस तरह का त्याग करने वाले महाव्रती कहे जाते है। ऐसा त्याग वे ही कर सकते है जिनका निश्चय मे तो प्रत्याख्यानावरणीय क्रोधादि कषाय का क्षयोपशम हो गया है, और व्यवहार मे जिन्हें सासारिक पदार्थों की ओर से उपरति, घृणा अथवा वैराग्य भावना जागृत हो गई है, तथा जो असयमपूर्ण जीवन से निकल कर सयमपूर्ण जीवन बिताना उचित एव आवश्यक मानते है।

हाथ से करने का त्याग कर ले और दूसरे व्यवसायी व्यक्ति द्वारा तैयार किया हुआ पदार्थ लेकर भोग ले तथा यह माने कि हमने आरम्भ--समारम्भ का पाप नही किया है, किन्तु सीधी वस्तु भोगी है, इसलिये हमारा पाप टल गया है, हम पाप से बचे हुए है, तो यह पाप से बचना नही है, अपितु आत्म-वंचना है। पाप से बचने का यह मार्ग नही है। यह मार्ग गुण के बदले अवगुण उत्पन्न करने वाला है। पाप से बचने के लिए तो अपनी लालसा सीमित करके त्याग-भावना को ही महत्त्व देना चाहिए। यदि ऐसा करने की क्षमता अभी नही है तो अपनी आवश्यकताओ को सादगी और विवेकपूर्वक पूरी करते हुए ऐसी क्षमता प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहना तो ठीक है, परन्तु वास्तविकता को दूसरा रूप देकर गुण के बदले अवगुण पैदा करना उचित नही है।

मतलब यह है कि गुणव्रतो को धारण एव पालन करने मे सावधानी और विवेक से काम लेना चाहिए। तभी ये गुण व्रत, मूल व्रतो मे गुण उत्पन्न करने वाले हो सकते है। तीन गुण व्रतो मे किस तरह की मर्यादा करनी पड़ती है? तीनों का रूप क्या है? और इन गुण व्रतो से किस-किस मूल व्रत मे उनमें क्या विशेषता आती है? आदि बातो के लिए तीनो व्रतो के विषय मे आगे पृथक-पृथक विचार किया जाता है।

हाथ से करने का त्याग कर ले और दूसरे व्यवसायी व्यक्ति द्वारा तैयार किया हुआ पदार्थ लेकर भोग ले तथा यह माने कि हमने आरम्भ–समारम्भ का पाप नही किया है, किन्तु सीधी वस्तु भोगी है, इसलिये हमारा पाप टल गया है, हम पाप से बचे हुए है, तो यह पाप से बचना नही है, अपितु आत्म–वचना है। पाप से बचने का यह मार्ग नही है। यह मार्ग गुण के बदले अवगुण उत्पन्न करने वाला है। पाप से बचने के लिए तो अपनी लालसा सीमित करके त्याग–भावना को ही महत्त्व देना चाहिए। यदि ऐसा करने की क्षमता अभी नही है तो अपनी आवश्यकताओ को सादगी और विवेकपूर्वक पूरी करते हुए ऐसी क्षमता प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहना तो ठीक है, परन्तु वास्तविकता को दूसरा रूप देकर गुण के बदले अवगुण पैदा करना उचित नही है।

मतलब यह है कि गुणव्रतों को धारण एवं पालन करने मे सावधानी और विवेक से काम लेना चाहिए। तभी ये गुण व्रत, मूल व्रतो मे गुण उत्पन्न करने वाले हो सकते है। तीन गुण व्रतों मे किस तरह की मर्यादा करनी पडती है? तीनो का रूप क्या है? और इन गुण व्रतों से किस–किस मूल व्रत मे क्या–क्या विशेषता आती है? आदि बातो के लिए तीनो व्रतो के विषय मे आगे पृथक्–पृथक् विचार किया जाता है।

से अमुक दिशा मे अथवा सब दिशाओ मे इतनी दूर से अधिक न जाऊँगा, उस मर्यादा या निश्चय को दिक् परिमाण व्रत कहते हैं।

अब यह देखते हैं कि दिक्परिमाण व्रत क्यो स्वीकार किया जाता है ? और दिक् परिमाण व्रत स्वीकार करने से श्रावको को क्या लाभ होता है? श्रावक लोग जो पाच अणुव्रत स्वीकार करते हैं, उन व्रतो पर स्थिर रह कर आगे बढना श्रावक का लक्ष्यबिन्दु होता है। परन्तु इसके लिए चित्त की शाति के बिना ध्येय के मार्ग पर स्थिर ही नही रहा जा सकता, तो आगे बढ ही कैसे सकता है ? और चित्त शाति का उपाय है वृत्ति का सकोच। जब तक चित्त मे चचलता रहती है, जिसकी वृत्ति सकुचित नही है, वह जब किसी स्थान के विषय मे कोई बात सुनता है, तब उसे वह स्थान देखने, उस स्थान विषयक अनुभव प्राप्त करने और वहा के पदार्थो को भोगने का विचार हो ही जाता है। असकुचित वृत्ति वाले मनुष्य का यह स्वभाव ही होता है। इस चचलता के कारण गमनागमन होना भी स्वाभाविक है और तब त्याग–भावना छूट कर विलासिता अपना आधिपत्य जमा लेती है। इसलिए व्रतधारी श्रावक को, अपनी साधारण आवश्यकताएँ दृष्टि मे रख–कर दिशाओ मे गमनागमन की मर्यादा करने रूप दिक्–परिमाण–व्रत अवश्य स्वीकार करना चाहिए।

उसी क्षेत्र में रहकर कर सकता है जो क्षेत्र उसने दिक्–परिमाण–व्रत में गमनागमन के लिए रखा है। उस क्षेत्र के बाहर जाकर न तो मर्यादित परिग्रह की रक्षा ही कर सकता है, न उसकी पूर्ति के लिए व्यवसाय ही कर सकता है। इसके सिवा जबतक दिक्–परिमाण द्वारा क्षेत्र की सीमा नही की जाती, तब तक तृष्णा का क्षेत्र भी सीमित नही होता और क्षेत्र सीमित न होने से तृष्णा बढती ही जाती है। इस प्रकार दिक्–परिमाण–व्रत स्वीकार करने पर श्रावक का पॉचवा मूलव्रत भी प्रशस्त हो जाता है।

दिग्व्रत की विधि

है तो वह अपना व्रत तोडता है। इस प्रकार इस व्रत का पालन करने मे कठिनाइयां भी सहनी पडती हैं। परन्तु जो उन कठिनाइयो को सहता है, जो अपनी वृत्ति का संकोच करता है और ममत्व का त्याग करता है, वही इस व्रत का पालन करने में समर्थ हो सकता है। साथ ही जो इस व्रत का पूरी तरह पालन करता है, उसकी वृत्ति भी संकुचित होती जाती है तथा उसमे ममत्व-त्याग की क्षमता भी बढती जाएगी।

कर नही, किन्तु अनजान में भूल से उल्लंघन हो जाना। वह ऊर्ध्व दिशि परिमाणातिक्रम है।

(2) दूसरा अतिचार अधो दिशि परिमाणातिक्रम है। नीची दिशा के लिए किये गये परिमाण का जानबूझ कर नहीं, किन्तु भूल या असावधानी से उल्लघन हो जाय। वह अधो दिशि परिमाणातिक्रम है।

(3) तीसरा अतिचार तिर्यक्दिशि परिमाणातिक्रम है। तिर्यक् दिशा–पूर्व पश्चिम आदि के लिए गमनागमन का जो परिमाण किया है, उस परिमाण का भूल या असावधानी से उल्लंघन करना तिर्यक् दिशि परिमाणातिक्रम है।

(4) चौथा अतिचार क्षेत्रवृद्धि है। इस अतिचार का अर्थ यह है कि एक दिशा के लिए की गई सीमा को कम करके उसे दूसरी दिशा की सीमा मे जोड कर दूसरी दिशा की सीमा बढ़ा लेना। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति ने व्रत लेते समय पूर्व दिशा मे गमनागमन करने की मर्यादा 50 कोस की रखी है परन्तु कुछ दिनों के अनुभव के पश्चात् उसने सोचा कि मुझे पूर्व दिशा में 50 कोस जाने का काम नही पडता है और पश्चिम दिशा में मुझे सीमा मे रखी गई मर्यादा से अधिक जाना है। इसलिए पूर्व दिशा के लिए रखे गये 50 कोस मे कुछ कोस कम करके पश्चिम दिशा की मर्यादा बढा दूं। इस तरह सोच कर यदि कोई व्यक्ति अपना मर्यादित क्षेत्र ऊपर बताई गई रीति से बढाता है, तो यह क्षेत्रवृद्धि अतिचार है। यद्यपि ऐसा करने मे उसने एक दिशा का क्षेत्र घटा दिया है, फिर भी अतिचार है; क्योंकि उसको अपना मर्यादित क्षेत्र घटाने का अधिकार तो है; लेकिन दिशा विशेष के नाम पर जो मर्यादा की गई है, उस मर्यादित क्षेत्र में वृद्धि करने का अधिकार नही है। इस कारण एक ओर का क्षेत्र घटा कर उसके बदले दूसरी ओर का क्षेत्र बढाना व्रत की उपेक्षा होने के कारण अतिचार है।

(5) पाचवा अतिचार स्मृतिभ्रंश है। क्षेत्र की मर्यादा को भूल कर मर्यादित क्षेत्र से आगे बढ जाना, अथवा 'मैं शायद अपनी मर्यादित क्षेत्र की दूरी तक तो चल चुका होऊगा' ऐसा विचार होने के पश्चात् भी निर्णय किये बिना आगे बढ जाना, स्मृतिभ्रंश अतिचार है।

इन पाच अतिचारो को समझ कर व्रत की रक्षा के लिए इनसे बचते रहना चाहिए। ऐसा करने वाला व्यक्ति ही, दिक्परिमाण व्रत का पूरी तरह पालन कर सकता है और मूल व्रत मे गुण उत्पन्न कर सकता है।

उच्छिष्ट, बासी तथा बिगडा हुआ हो और जो क्रोधादि का उत्पादक हो, वह आहार तामस है।

भोजन से, मन, वाणी और स्वभाव का पूर्ण सबंध है। जो जैसा भोजन करता है, उसके मन, वाणी और स्वभाव में वैसा ही सद्गुण या दुर्गुण आता है। व्यवहार मे भी कहावत है कि 'जैसा आहार होता है, वैसा विचार, उच्चार और व्यवहार भी होता है।' इस प्रकार आहार का संयम रखना आवश्यक है और ऐसे आहार से बचे रहना भी आवश्यक है, जो विकृति उत्पन्न करने वाला है, जिसके लिए महान् पाप हुआ या होता है और जो लोक मे निन्द्य माना जाता है।

श्रावक को यथा सम्भव सचित्त वस्तु भोगने का त्याग करना चाहिए। सचित्त का अर्थ है–सजीव, यानी जीव सहित। जिसमें चित्त् शक्ति मौजूद है, उसे सचित्त कहते है, जैसे कच्चा हरा साग, बिना पीसा हुआ या बिना पकाया हुआ अन्न और जिनमें अकुर उत्पन्न होने की शक्ति हैं, वे बीज। इसी प्रकार बिना पकाया हुआ या असंस्कृत पानी भी सचित्त है। श्रावक के लिए उचित है, कि जहां तक भी सम्भव हो, ऐसे अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य का त्याग करना चाहिए, जो सचित्त हो। यद्यपि ऐसा न करने वाला श्रावक श्रावकत्व से गिरता नही है, लेकिन सचित्त का त्याग करना श्रावकत्व को प्रशस्तता देना है। इसलिए जहां तक हो सके श्रावक को सचित्त आहार का त्याग करना चाहिए। सचित्त का त्याग करने में श्रावको को किसी बड़ी कठिनाई का सामना भी नहीं करना पड सकता। क्योंकि गृहस्थ श्रावक साधन–सम्पन्न होता है, और जब तक उसने आरम्भजा हिसा को नही त्यागा है, तब तक उसके लिए भोजन पानी पकाने यानि अचित्त बनाने का भी निषेध नही है। बल्कि शास्त्र मे भी जहा श्रावक के भोजनादि का वर्णन है, वहां यह स्पष्ट कहा गया है कि–

असणं पाणं खाइमं उवक्खडावेइ उवक्खडावेइत्ता।

अर्थात्–अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य निपजा कर यानी बना कर भोगा।

इस प्रकार श्रावक भोजन, पानी आदि को अपने उपयोग में लाने के योग्य बनाने मे स्वतन्त्र है। इसलिए श्रावक को अपना श्रावकत्व प्रशस्त करने

से अमुक–अमुक वस्तु सर्वथा न भोगूंगा, अमुक वस्तु इतनी बार से अधिक बार काम में नहीं लाऊँगा, इतने समय से पूर्व या पश्चात् की बनी हुई चीज का उपयोग नहीं करूंगा, अमुक समय पर ही अमुक वस्तु काम मे लूंगा, उसके पहले या पीछे काम में न लूंगा, और अमुक वस्तु इतने समय तक ही काम में लूगा, इस समय के पश्चात् काम में न लूंगा। इस तरह वस्तु के उपभोग और परिभोग के लिए द्रव्य, क्षेत्र और काल से मर्यादा करने का नाम ही उपभोग परिभोग–परिमाण व्रत है।

उपभोग और परिभोग में आने वाली वस्तुओं को शास्त्रकारों ने 26 बोलो मे संग्रहीत कर दिया है। प्रायः वे सभी उपभोग्य, परिभोग्य वस्तुएं इन 26 बोलों में आ गई है, जिनका उपयोग करना जीवन के लिए आवश्यक माना जाता है। इन 26 बोलों का आधार मिल जाने से व्रत लेने वाले को बहुत सुगमता होती है। वह इस बात को समझ जाता है कि जीवन के लिए प्रधानतः किन–किन वस्तुओ का उपभोग–परिभोग आवश्यक है। और यह समझने के कारण वह वैसी चीजों को मर्यादा मे रखना नहीं भूलता, जिससे उसे किसी समय कठिनाई का सामना नही करना पड़ता। शास्त्रकारो द्वारा बताये गये वे 26 बोल नीचे दिये जाते है–

(1) उल्लणिया विहि परिमाण :– मनुष्य जब प्रातःकाल उठ कर शौचादि से निवृत्त हो हाथ–मुह धोता है, तब उसे हाथ–मुंह पोछने के लिए गीले वस्त्र की आवश्यकता होती है। वर्तमान समय मे ऐसा वस्त्र रूमाल, टुवाल आदि कहा जाता है। ऐसे वस्त्र की मर्यादा करना।

कई लोग ऐसा वस्त्र रखना शौक़ या फैशन मानते है, परन्तु वास्तव मे ऐसा वस्त्र जीवन–सहायिका सामग्रियों मे से एक है। हाथ–मुह पोछने के लिए अलग वस्त्र न रख कर पहने हुए कपड़ों से अथवा अस्वच्छ वस्त्र से हाथ–मुह आदि पोछना हानिप्रद है। ऐसा करने से या तो पहने हुए वस्त्र खराब होते हैं, अथवा मलिन वस्त्र के परमाणु शरीर मे प्रविष्ट होकर रोग उत्पन्न करते हैं। इसलिए स्वास्थ्य की दृष्टि से हाथ–मुंह आदि पोछने के लिए एक विशेष वस्त्र रखना उचित है। वह वस्त्र कैसा हो, यह बात आनन्द श्रावक के वर्णन से प्रकट है। आनन्द श्रावक ने इस सातवें व्रत के सबध मे जो मर्यादा की थी, उसमे उसने हाथ–मुह पोछने के लिए ऐसा वस्त्र रखा था, जो रगीन और सुवासित था तथा जिसके स्पर्श से आलस्य उडकर स्फूर्ति आती थी।

(2) दन्तवण विहि परिमाण :– रात के समय सोये हुए मनुष्य के मुख मे श्वासोच्छ्वास से वायु द्वारा जो विकृत पुद्गल एकत्रित हो जाते हैं,

(10) आभरणविहि परिमाण :– शरीर पर धारण किये जानेवाले आभूषणों की मर्यादा करना कि मैं इतने मूल्य या भार (वजन) के अमुक आभूषण के सिवा और आभूषण शरीर पर धारण न करूंगा।

(11) धूपविहि परिमाण :– इस बोल में वायु–शुद्धि के लिए की जाने वाली धूप का परिमाण करना बताया गया है। जिस स्थान पर निवास किया जाता है, स्वास्थ्य की दृष्टि से वहां का वायु शुद्ध रहना आवश्यक है और धूपादि का उपयोग वायु–शुद्धि के लिए ही किया जाता है परन्तु इसके लिए भी मर्यादा करना उचित है।

ऊपर जिन विधियों का परिमाण करना बताया गया है वह उन पदार्थों के लिए है, जिनसे या तो शरीर की रक्षा होती है अथवा जो शरीर को विभूषित करते हैं। अब नीचे ऐसी चीजों की विधि का परिमाण बताया जाता है जिनसे शरीर का पोषण होता है, शरीर को बल मिलता है, अथवा जो स्वाद के लिए काम में लाये जाते हैं।

(12) पेज्ज–विहि परिमाण :– जो पिये जाते हैं, उन पेय पदार्थों का परिमाण करना। पूर्व काल में भोजन मध्याह्न में किया जाता था, इस कारण प्रातः काल के समय कुछ ऐसे पदार्थ पिये जाते थे जिनसे अजीर्णादि विकार मिट कर क्षुधा की वृद्धि होती है।

(13) भक्खणविहि परिमाण :– इस बोल में उन पदार्थों का परिमाण करने के लिए कहा गया है, जो भोजन से पहले नाश्ते के रूप मे खाये जाते हैं जैसे मिठाई आदि।

(14) ओदणविहि परिमाण :– ओदन में उन द्रव्यो का समावेश है जो विधि पूर्वक अग्नि द्वारा उबाल कर खाये जाते हैं जैसे चावल, थूली, खिचडी आदि।

(15) सूपविहि परिगाण :– सूप मे उन पदार्थों का समावेश है जो दाल आदि के रूप मे खाये जाते है और जिनके साथ रोटी या भात आदि खाये जाते है।

(16) विगयविहि परिमाण :– विगय मे वे पदार्थ है जो भोजन को सुस्वादु एव पौष्टिक बनाते हैं जैसे दूध, दही, घृत, तेल और गुड, शक्कर, मिठाई आदि । दूध, दही, घृत, तेल और मिठाई, इन पाच की गणना विगय (विकृति उत्पन्न करने वाले) मे है। मधु (शहद) और मक्खन विशेष विकृति उत्पन्न करने वाले है, इसलिए श्रावक को विशेष कारण के विना इनका

(25) सचित्तविहि परिमाण :– इसमें सचित्त यानी जीव सहित ऐसे पदार्थों की मर्यादा बताई गई है, जो बिना अचित्त बनाये ही खाये जाते हैं और जिनके स्पर्श से मुनि–महात्मा बचते हैं। श्रावक श्रमणोपासक होता है। श्रमणों की सेवा–उपासना उन्हें प्रासुक, आहार, पानी, वस्त्र, पात्र आदि देकर ही की जाती है, और किसी तरह की यानी शारीरिक–सेवा तो साधु लोग गृहस्थ से कराते ही नहीं है। श्रावक प्रासुक आहार पानी आदि तभी श्रमण को दे सकता है जब वह स्वयं अचित्त भोग रहा हो। इसलिए जहां तक सम्भव हो श्रावक को सचित्त का सर्वथा त्याग करना चाहिए और यदि ऐसा न कर सके तो सचित्त की मर्यादा करनी चाहिए।

(26) दव्वविहि परिमाण :– इस बोल में यह कहा गया है कि ऊपर के बोलों में जिन पदार्थों की मर्यादा की है, सचित्त और अचित्त पदार्थों का जो परिमाण किया है, उन पदार्थों को द्रव्य रूप में संग्रह करके उनकी मर्यादा करे कि मैं एक समय में एक दिन में या आयु भर में इतने द्रव्य से अधिक का उपयोग न करूंगा? जो वस्तु स्वाद की भिन्नता के लिए अलग–अलग मुंह में डाली जायेगी, अथवा एक ही वस्तु स्वाद की भिन्नता के लिए दूसरी–दूसरी वस्तु के सयोग के साथ मुंह में डाली जायेगी, उसकी गणना भिन्न–भिन्न द्रव्यों में होगी। इसलिए जहां तक बन सके श्रावक को रस–लोलुप न रहना चाहिए।

ऊपर बताये गये 26 बोलों में पहले 11 बोल शरीर को स्वच्छ, स्वस्थ और सुशोभित बनानेवाले पदार्थों से सबंधित हैं मध्य के 10 बोल खानपान में आनेवाले पदार्थों से सम्बन्धित हैं और अन्त के शेष बोल शरीर की रक्षा करने वाले अथवा शौक पूरा करने वाले पदार्थों से संबंधित हैं। इन बोलों मे जीवन के लिए आवश्यक सभी उपभोग्य पदार्थ आ जाते हैं। इन बोलो मे कई बोल तो ऐसे पदार्थों से सबधित हैं, जो वर्तमान समय के लोगों को आवश्यकता से अधिक जान पडते हैं, परन्तु शास्त्र में जो वर्णन है वह त्रिकालज्ञो द्वारा सामान्य विशेष सभी लोगो को दृष्टि मे रखकर किया गया है। व्रत धारण करने वालो मे साधारण लोग भी होते हैं। और राजा लोग भी होते हैं। इसीलिए शास्त्र मे ऐसी विधि बताई गई है, कि जिससे किसी को कठिनाई में न पड़ना पडे। शास्त्रकारों ने अपनी ओर से तो सभी बाते बता दी हैं, फिर जिसको जिसकी आवश्यकता नहीं है, वह उसे त्याग सकता है।

उपभोग–परिभोग परिमाण व्रत का उद्देश्य श्रावक के जीवन को

वास्तविक बात यह है कि सांसारिक पदार्थों का उपयोग किस लिए होना चाहिए ? किस लिए किया जा रहा है? इस विषय में लोगो से भूल हो रही है। उस भूल के कारण ही लोग अपनी आवश्यकताएं बढा लेते हैं, अथवा अधिक से अधिक पदार्थ अपने अधिकार में रखना चाहते हैं। सांसारिक पदार्थों का उपयोग किस लिए है? लेकिन माना किस लिए जाता है, यह बताने के लिए भर्तृहरि कहते हैं–

तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादु सुरभिः
क्षुधार्तः सन् शालीन् कवलयति शाकादिवलितान्।
प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमाश्लिष्यति वधूं।
प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्याति जनः।।

अर्थात–मनुष्य का कंठ जब प्यास से सूखने लगता है, तब वह शीतल सुगन्धित जल पीता है। मनुष्य जब क्षुधा से पीडित होता है तब शाकादि सामग्री के साथ भोजन करता है और जब कामाग्नि प्रदीप्त होती है, तब सुन्दर स्त्री को हृदय से लगाता है। इस प्रकार पानी, भोजन, स्त्री–अथवा ऐसी ही दूसरी चीजे पृथक्–पृथक् व्याधि की औषधियां हैं। एक–एक दुःख मिटाने की दवा हैं–परन्तु मनुष्यों ने इनमे सुख मान रखा है।

इस प्रकार लोगों ने उन पदार्थो में सुख मान रखा है, जिनका उपभोग किसी दुःख को मिटाने के लिए ही किया जाता है । और इसी कारण आवश्यकता न होने पर भी उन पदार्थों का उपभोग–परिभोग किया जाता है, अथवा ऐसा प्रयत्न किया जाता है, कि जिससे उन पदार्थो का अधिक से अधिक उपभोग–परिभोग किया जा सके। अन्यथा खाने के लिए पकवान, शाक और इसी प्रकार अन्य सुस्वादु वस्तुओ की क्या आवश्यकता है? भूख तो साधारण रोटी आदि से भी मिट सकती है। भूख लगने पर रूखी रोटी भी प्रिय एव सुस्वादु लगती है। ऐसी दशा में पकवान, मिष्टान्न एवं शाक–चटनी, अचार–मुरब्बे या अन्य ऐसे ही पदार्थों की क्या आवश्यकता रहती है ? लेकिन लोगों ने खाने–पीने मे आनन्द मान रखा है। लोग चाहते हैं– कि हम बिना भूख भी अधिक से अधिक खावे। इस तरह लोग क्षुधा मिटाने के लिए खाने के बदले रसेन्द्रिय का अधिक से अधिक पोषण करना चाहते हैं। और इसीलिए क्षुधा न होने पर भी ऐसी सुस्वादु चीजे खा जाते है, जो स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद, रोग उत्पन्न करने वाली, अधिक खर्च कराने वाली और अधिक धन द्वारा तैयार होती हैं। रोग उत्पन्न होने का प्रधान कारण ऐसा खानपान ही है जो क्षुधा न होने पर भी केवल स्वाद के लिए खाया–पिया जाता है।

वस्त्र संग्रह कर रखते हैं, जो पड़े–पड़े खराब हो जाते हैं, सड़ जाते हैं, या कीड़ों द्वारा खा डाले जाते हैं। इस प्रकार एक ओर तो बहुत से वस्त्र पड़े–पडे नष्ट होते हैं और दूसरी ओर अनेक लोग, शीत–ताप से बचने के लिए वस्त्र न मिलने के कारण दुःख पाते तथा मरते हैं।

इस उष्ण प्रदेश भारत में अधिक वस्त्र पहनना कदापि आवश्यक या लाभप्रद नहीं है। इस देश में तो केवल लज्जा की रक्षा के लिए अथवा शीत से बचने के लिए वस्त्र पहनने की आवश्यकता है। लेकिन अधिकांश लोग आवश्यक वस्त्रों के सिवा और भी बहुत से वस्त्र केवल अपना बडप्पन दिखाने के लिए अथवा शीत–देश वासी लोगों का अनुकरण करने के लिए शरीर पर लादे रहते हैं। परिणाम यह होता है कि शरीर को पूरी हवा नहीं लगती। इस कारण शरीर का पसीना रोमकूपों मे जम कर सूख जाता है जिससे वायु का संचार रुक जाता है अथवा पसीना वस्त्रों में प्रविष्ट हो कर सूख जाता है और शरीर के आस–पास गंदगी पैदा कर देता है। इस प्रकार अधिक वस्त्र पहनना स्वास्थ्य–विघातक होने के साथ ही शरीर की त्वचा में शीत–ताप या पवन का आधात सहन करने की जो शक्ति है उस शक्ति का भी विनाशक है और शरीर को दुर्बल, रुग्ण एवं अल्पायु बनाने वाला है।

लोगों ने वस्त्र पहनना किसी दुःख से बचने के लिए नहीं, किन्तु शृंगार अथवा वर्त्तमान कालीन सभ्यता का पालन करने के लिए मान रखा है। इस कथन का एक और प्रमाण है लोगों का मूल्यवान् एवं महीन वस्त्र पहनना। यदि शीतादि से बचने और लज्जा की रक्षा के लिए ही वस्त्र पहनना माना जाता, तो फिर चित्र–विचित्र रंगवाले, अधिक मूल्यवान् या महीन वस्त्र पहनने की कोई आवश्यकता न होती। बल्कि ऐसे ही वस्त्र पहने जाते जिनके द्वारा शीत–ताप से बचा जा सके, लज्जा की रक्षा हो सके, जो सर्वसाधारण को प्राप्त होने योग्य सादे हों और जिनके निर्माण मे महापाप न हुआ हो। इसी प्रकार जो बालक लज्जा को जानते ही नहीं हैं, उनको वस्त्रो से जकड कर उनके शारीरिक विकास को भी न रोका जाता। बच्चों को वस्त्र पहनाये जाने का विरोध करते हुए कवि–सम्राट् रवीन्द्रनाथ टैगोर ने यह अभिप्राय व्यक्त किया हैं कि बच्चों को सिले हुए वस्त्र पहनाना उनके शारीरिक विकास को रोकना और एक प्रकार से उनकी हत्या करना है। स्वयं बच्चे भी सिले हुए वस्त्र पहनना पसन्द नही करते। बल्कि जब उन्हे वस्त्र पहनाया जाने लगता है, तब व रोकर विरोध करते हैं। लेकिन यदि भारतीयो द्वारा किया गया कोई विरोध अंग्रेज सुनते हो तो बालक द्वारा किया गया वस्त्र पहनाने का विरोध

वस्तुएं त्वचा मे रही हुई प्राकृतिक क्षमता नष्ट करके त्वचा को कमजोर नहीं वनाती? वास्तव में ऐसी सभी चीजें हानि करने वाली हैं, और इनके उपयोग मे किसी प्रकार का सुख भी नहीं है, बल्कि जीवन को दुःखी करने वाली हैं। फिर भी लोग ऐसी चीजों में आनन्द मानते हैं और जब वे चीजें प्राप्त नही होतीं, तब मनस्ताप करते हैं तथा अपने जीवन का अधिकांश भाग ऐसी चीजो की प्राप्ति के प्रयत्न में ही लगा देते हैं। इस प्रकार आवश्यकताओं के बढ जाने पर जीवन अशान्त रहता है और सदा हाय–हाय ही बनी रहती है।

सारांश यह कि जिन वस्तुओं का उपयोग किये बिना साधारणतया जीवन–निर्वाह नहीं हो सकता, उनका परिमाण करके शेष चीजो के उपभोग–परिभोग का त्याग करना चाहिए। ऐसा करने से अपनी आवश्यकताओ को मर्यादित कर लेने से जीवन बहुत शान्ति से व्यतीत होता है। जीवन में उपभोग्य–परिभोग्य पदार्थ संबंधी अशान्ति नही रहती। इसके सिवा, 'जो अपना खर्च कम रखता है उसे कमाना भी कम पडता है और जो अधिक खर्च रखता है, उसे कमाना भी अधिक पडता है,' इस लोकोक्ति के अनुसार अपना रहन–सहन, और खान–पान सादा न रखने पर खर्चीले रहन–सहन एवं खानपान के लिए अधिक कमाना पड़ेगा, जिससे जीवन में अशान्ति रहना स्वाभाविक है। जिसका जीवन खाने–पीने तथा पहनने–ओढने आदि के लिए कमाने मे ही लगा रहता है, उसके द्वारा धर्मकार्य कब होगे? ऐसे व्यक्ति का चित आवश्यकता पूर्ति की चिन्ता से अस्थिर रहता है– और जिसका चित्त ही अस्थिर है, उसके द्वारा आत्मकल्याण और परोपकार के कार्य कैसे हो सकते हैं?

उपभोग–परिभोग–परिमाणव्रत स्वीकार करने से–यानि अपनी आवश्यकताए मर्यादित बना लेने से जीवन भी बहुत शान्ति से व्यतीत होता है और मूलव्रतो का विकास होता है। यह व्रत स्वीकार करने वाले का जीवन सादा हो जाता है, जिससे मूलव्रत देदीप्यमान होते हैं। जनता मे उसकी प्रतिष्ठा बढ जाती है और लोगो की दृष्टि मे वह विश्वासपात्र माना जाता है।

मूलव्रत स्वीकार करते समय श्रावक कुछ अव्रत तो दो करण तीन योग से त्यागता है, और कुछ एक करण, तीन योग से अथवा एक करण, एक योग से भी। इस कारण व्रत मे जो छूट रह जाती है–यानी जो अव्रत शेष रह जाता है–वह दिक्व्रत धारण करने पर क्षेत्र से और उपभोग–परिभोग–परिमाणव्रत धारण करने पर द्रव्य से सकुचित हो जाता है। अर्थात् शेष अव्रत सीमित हो जाते हैं, और मूलव्रत प्रशस्त हो जाते हैं। दिक्व्रत और उपभोग–परिभोग

उपभोग–परिभोग–परिमाण व्रत के अतिचार

पहले बता चुके हैं कि उपभोग–परिभोग–परिमाणव्रत दो प्रकार का है। यथा–

उवमोग–परिमोग परिमाण वए दुविहे ।
पन्नत्ते, तंजहा–मोयणाओ य कम्मओ य।।

अर्थात् – उपभोग–परिभोग परिमाण व्रत दो प्रकार का है, भोजन से और कर्म से।

दो प्रकार के उपभोग–परिभोग–परिमाण व्रत मे से भोजन संबधी व्रत के पाच अतिचार बताये गये हैं। श्रावक को इन अतिचारों से बचते रहना चाहिए। अन्यथा व्रत में मलिनता आयेगी। श्रावक लोग इन अतिचारों रो बचे रह सके, इसलिए इनका स्वरूप बताया जाता है।

(1) भोजन सबंधी पांच अतिचार मे से पहला अतिचार सचित्ताहार है। राचित्ताहार का अर्थ है–सचित्त पदार्थ का आहार। जिरा खान–पान की चीज मे जीव विद्यमान है, उसको सचित्त कहते हैं। जैसे धान, बीज, पृथ्वी, जल, वनस्पति आदि। ऐसी चीजें जो सचित्त हैं, मर्यादा होने पर भी भूल से खाना अतिचार है। इस अतिचार की व्याख्या करते हुए टीकाकार कहते हैं–

कृत राचित्ताहार प्रत्याख्यानस्य कृत तत्परिमाणस्य वाऽनाभोगादि प्रत्याख्यानं राचेतनं भक्षयतस्तद्वां प्रतीत्यातिक्रमादौ वर्तमानस्य।

अर्थात्–जिस राचित्त आहार का त्याग किया है, अथवा जिसके संबध में कोई मर्यादा विशेष की है, भूल से उरा पदार्थ को खाना अतिचार है।

(2) दूसरा अतिचार है राचित्त पडिबद्धाहार। वस्तु तो अचित है, परन्तु उसको सचित वस्तु रो सबधित रख कर खाना यह सचित प्रतिबद्ध–आहार है। जैसे हरे पत्तों के दोने मे दूध मिठाई आदि है। दूध या मिठाई तो अचित्त

उपभोग्य–परिभोग्य पदार्थों को प्राप्त करने के लिए आजीविका करनी पडती है यानी कोई धन्धा–रोजगार करना ही पडता है। जिसकी आवश्यकताएं बढ़ी हुई होती हैं, उसको धन्धे द्वारा अधिक आय करनी पड़ती है, और जिसकी आवश्यकताएं कम हैं, उसे कम आय करनी पडती है, परन्तु गृहस्थ श्रावक को अपनी आवश्यकताएं पूरी करने के लिए कोई धन्धा तो करना ही पडता है। हां, यह बात अवश्य है कि जिसने अपनी आवश्यकताएं मर्यादित कर दी हैं, वह थोड़ी आय से ही सन्तुष्ट रहता है तथा ऐसी रीति से आजीविका करता है जिसमें पाप का भाग कम और धर्म का भाग अधिक हो। इसके विरुद्ध जिसकी आवश्यकताएं बढ़ी हुई हैं, उसको बहुत आय होने पर भी सन्तोष नहीं होता। तथा वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ऐसी रीति से भी आजीविका करता है जिसमें पाप का भाग अधिक हो और जो निषिद्ध हो।

शास्त्र में श्रावकों के लिए पन्द्रह कार्यों द्वारा आजीविकोपार्जन का निषेध किया गया है। वे पन्द्रह कार्य पन्द्रह कर्मादान के नाम से प्रसिद्ध हैं। श्रावक धर्मपूर्वक ही आजीविका कर सकता है। इस कथन का अर्थ यह नहीं है कि गृहस्थ–श्रावक भीख मांग कर खावे। किन्तु जिस कार्य में महापाप नहीं है वह कार्य करके आजीविका चलाना, धर्म की ही आजीविका कहलाती है। यद्यपि आजीविका के लिए किये जाने वाले व्यवसाय में पाप का भाग भी होता है, लेकिन किसी व्यवसाय में पाप का भाग अल्प होता है और किसी में ज्यादा। जिसमें पाप का भाग ज्यादा है उस व्यवसाय द्वारा आजीविका करना पाप की आजीविका है । और जिसमें पाप का भाग अल्प होता है उस व्यवसाय द्वारा आजीविका करना धर्म की आजीविका कहलाती है। यद्यपि गृहस्थ श्रावक के लिए जो धर्म की आजीविका कहलाती है, उसमें पाप का कुछ भाग होने पर भी वह आजीविका उसी प्रकार पाप की आजीविका नहीं कही जाती जिस प्रकार चन्द्र मे थोडी सी कालिमा देखने मे आती है, फिर भी यह नही कहा जाता कि चन्द्रमा काला है। इसी प्रकार जिन कार्यों में पाप का अंश कम है, वे कार्य भी पापपूर्ण होने पर भी व्यवहार मे पापपूर्ण न लगने से पापपूर्ण नहीं माने जाते, किन्तु दृष्टि सम होने से धर्मपूर्ण माने जाते हैं। जहां श्रावक के आरम्भादि का वर्णन किया जायेगा, वहां तो यही कहा जायेगा कि

उनके द्वारा मिलने वाला स्वास्थ्यवर्द्धक शुद्ध हवा भी मिले और सूखने पर लकड़ी भी मिले। आज कल बडे–बडे वृक्षों को तो काट डाला जाता है, और घर पर कूँडों में वृक्ष के दो चार पौधे लगा कर उनसे ऑक्सिजन (स्वास्थ्य वर्द्धक वायु) की आशा की जाती है। लेकिन ऐसे कूँडों से कितना ऑक्सिजन मिल सकता है? इसके सिवा ऐसे कूँडों से संसार के सभी लोगों का काम नहीं चल सकता। संसार के लोगो का काम वन के वृक्षों से ही चलता है। वृक्ष, खराब हवा कार्बनडाइ ऑक्साइड अपने में खींच कर, उसके बदले शुद्ध प्राणदायी हवा ऑक्सीजन के रूप में छोडते हैं, जिससे संसार के लोग जीवित रहते हैं। ऐसे उपकारी वृक्षों को कोयले के लिए काट डालना महान् पाप है।

2 **वण कम्मे**, यानि वनकर्म। जंगल से लकडी–बांस आदि काट–काट कर बेचने का नाम वन कर्म है। इससे वन में रहने वाले कई पंचेन्द्रियादि त्रस जीवों का नाश होता है तथा वन का प्राकृतिक सौन्दर्य भी नष्ट होता है। वन द्वारा पशु–पक्षियों को जो आधार मिलता है वह आधार छूट जाता है। ऐसा अनर्थकारी व्यापार श्रावक के लिए त्याज्य है।

कई लोग जंगल का ठेका ले लेते हैं और जंगल के वृक्षो को काट कर तथा बेच कर आजीविका करते हैं। इस व्यवसाय की गणना 'वन कम्मे' मे ही है। श्रावक के लिए यह व्यवसाय त्याज्य है।

3 **साडी कम्मे**, यानी साटिक कर्म। बैल–गाडी या घोडा–गाडी आदि द्वारा भाडा कमाना, अथवा शकट यानी गाडा–गाडी आदि वाहन बनवा–बनवा कर बेचना या किराये पर देना साडीकम्मे है। इस कार्य से परम्परा से पचेन्द्रिय जीवों को महान् त्रास होता है। जो महापाप का कारण है। अत. श्रावक को ऐसे कार्यों द्वारा आजीविका न करनी चाहिए।

4 **भाड़ी कम्मे**, यानी भाटिकर्म। जिस तरह इंगाल कर्म और वन कर्म का परस्पर सबंध है, उसी तरह साडीकर्म और भाडी कर्म का भी आपस मे सबध है। साडीकर्म में गाड़ा–गाडी आदि वाहन मुख्य हैं, और भाडीकर्म मे पशु यानी घोडे, ऊँट, भैंसे, गधे, खच्चर, बैल आदि मुख्य है। इस तरह के पशुओ का भाडे पर देकर उस भाडे से आजीविका चलाना भाडीकर्म द्वारा आजीविका चलाना है। श्रावक पशुओं द्वारा अपना मर्यादित बोझ तो ढुवा सकता है परन्तु बोझ ढोने के लिए दूसरे को पशु भाडे से देना श्रावक के लिए निषिद्ध है। क्योंकि भाडे पर लेने वाले लोग अपने लाभ के सन्मुख पशुओं की दया की उपेक्षा कर डालते हैं।

दन्त वाणिज्य में उपलक्षण से शंख, हड्डी अथवा ऐसी ही उन दूसरी चीजों के वाणिज्य का भी समावेश हो जाता है जो इसी श्रेणी की होती हैं और त्रस जीवों की हिसा द्वारा प्राप्त की जाती हैं।

7 **लक्ख वाणिज्जे**, यानि लाख का व्यापार। लाख वृक्षों का रस (मद) है। लाख निकालने में त्रस जीवों की बहुत हिसा होती है, और लाभ भी अधिक नहीं होता। इसलिए श्रावक के लिये ऐसा व्यवसाय त्याज्य है।

8 **रासवाणिज्जे**, यानी रस का व्यापार। यहां रस से मतलब मदिरा है। जो पदार्थ मनुष्य को उन्मत्त बना देते है, जिन पदार्थों के सेवन से बुद्धि नष्ट होती है, उन पदार्थों की गणना मद यानि मदिरा में है। ऐसे पदार्थों का सेवन करने वाला मनुष्य अनर्थ कर डालता है।

शक्कर, गुड, घृत, तेल, दूध, दही आदि के व्यापार को रस वाणिज्य मे बताना असगत है। रस वाणिज्य किसे कहते है, यह बताने के लिए टीकाकार ने स्पष्ट कर दिया है कि:–

रस वाणिज्ये सुरादि विक्रयः।

इसमे सुरा (मदिरा) तथा ऐसी ही दूसरी नशीली चीजों के बेचने को रस वाणिज्य मे बताया गया है, दूध, दही आदि बेचने को नही। गुड़, घृत, दध, दही आदि पदार्थ मनुष्य के लिए हितकारी है और जीवन को पुष्टि देने वाले हैं इसलिए इनका व्यवसाय इस कोटि का निन्द्य अथवा त्याज्य नही है।

9 **विस वाणिज्जे**, यानि विष का व्यापार। अफीम, संखिया आदि जीवननाशक पदार्थों की गणना विष मे है। जिनके खाने या सूंघने से मृत्यु हो जाती है ऐसे विपैले पदार्थों का व्यवसाय हानिप्रद है। इसलिए श्रावक यह व्यवसाय न करे। लोक मे भी ऐसे विष पदार्थ के क्रय–विक्रय पर सरकार का नियन्त्रण रहता है, और यदि कोई व्यक्ति विष खाकर मर जाता है अथवा किसी दूसरे को मार डालता है, तो जिसके यहा से वह विष खरीदा गया है वह व्यापारी भी न्यूनाधिक अश मे अपराधी माना जाता है।

10 **केस वाणिज्जे**, अर्थात केश का व्यापार। यहां केशवाणिज्य से मतलब सुन्दर केश वाली दासियो का क्रय–विक्रय करना है। पूर्व समय मे अच्छे केश वाली स्त्रियो का क्रय–विक्रय होता था, और ऐसी स्त्रिया दासी बना कर भारत से बाहर यूनान आदि देशो मे भी भेजी जाती थी। प्राचीन काल मे दासियो का क्रय–विक्रय राज्य का अपराध नही माना जाता था। इससे भारत मे भी दासियो का व्यापार होता था। इसका प्रमाण है कौशाम्बी मे सती

कई लोग केस वाणिज्जे में ऊन या ऊनी वस्त्र का व्यवसाय भी बताते हैं, लेकिन ऊन या ऊनी वस्त्र के व्यवसाय को केश–वाणिज्य में बताना असंगत है। टीकाकार ने यह स्पष्ट कर दिया है, कि केशवाणिज्य किसे कहते हैं?

ये पांच प्रकार के व्यापार निषिद्ध हैं। अब आगे पांच प्रकार के और निषिद्ध कर्म बताये जाते हैं।

11 **जंतपीलणिया कम्मे**–यानि यन्त्र द्वारा पीलने का कर्म। कोल्हू द्वारा तिल या गन्ने आदि का तेल या रस निकालने का धन्धा करना जतपीलणिया कम्मे कहा जाता है। श्रावक को इस धन्धे द्वारा आजीविका न करना चाहिए। क्योकि इस धन्धे मे अनेक त्रस जीवों की हिंसा सम्भव है।

जन्तपीलणिया कम्मे का रूप बताते हुए टीकाकार ने तेल या रस निकालने के लिये कोल्हू चला कर आजीविका करना बताया है। इससे स्पष्ट है कि उस समय भारत में यन्त्र के नाम पर केवल गन्ना या तिल पीलने के देशी कोल्हुओं का ही प्रचलन था और कोई यन्त्र अस्तित्व में न थे। अन्यथा टीकाकार उनका भी उल्लेख करते ही। पूर्व समय में जब कि भारत आधुनिक यन्त्रवाद से बचा हुआ था, तब यह देश बहुत सम्पन्न था और लोगों का जीवन शान्तिपूर्वक व्यतीत होता था। उस समय भारत का धन भी विदेशों को नही जाता था तथा श्रमजीवी लोगों के लिए श्रम करने का भी विस्तृत क्षेत्र रहता था। इस कारण किसी को भूखे भी न मरना पड़ता था और लोगों का जीवन भी स्वावलम्बी था। लेकिन जब से भारत में यन्त्रवाद का प्रचार हुआ है, तब से कुछ लोग तो अवश्य धनवान् बने होंगे, लेकिन साधारण लोग आजीविका हीननिरुद्यमी और परावलम्बी हो गये हैं। संसार में नगों–भूखों की संख्या यन्त्रवाद ने ही बढाई है। इस प्रकार यन्त्रवाद के आधिक्य से भारत का धन विदेशों मे जा रहा है, और भारत दिन–प्रतिदिन कंगाल तथा पतित होता जा रहा है। यन्त्रवाद से होने वाली ऐसी हानियों को दृष्टि मे रखकर ही भगवान् ने इस व्यवसाय को कर्मादान मे बताया है।

कोई कह सकता है कि यदि गन्ना या तिल (जिसमें से तेल निकलता है) पीलना कर्मादान मे है, तब कोई कृषक जैन धर्म कैसे स्वीकार कर सकता है? क्योंकि कृषक तो गन्ने की भी कृषि करता है तथा तिल की भी। इसलिए [illegible] लिए कोल्हू की सहायता लेना आवश्यक है। इस प्रकार के कथन का [illegible] है कि अपनी आवश्यकता पूरी करने के लिए कोल्हू का उपयोग

किसी भी रूप में होता हो, श्रावक को तो वैसे कार्य से बचने का ही उपदेश दिया जायेगा! यह नहीं हो सकता कि संसार में वह पापकार्य होता है, इसलिए उसे अनिषिद्ध माना जावे। संसार में मारा का व्यवसाय होता ही है, लेकिन क्या इस कारण श्रावकों के लिए मांरा का व्यापार निषिद्ध न होना चाहिए? जो कार्य पाप है, निन्द्य है; श्रावक को उरासे बचने के लिए ही उपदेश दिया जायेगा, फिर वह कार्य संसार मे कितना ही फायदेमन्द क्यों न हो?

इसी के अनुसार पन्द्रह कर्मादानो मे बताये गये कार्य ससार में कितने भी क्यो न होते हों, लेकिन श्रावक को वे कार्य कदापि न करने चाहिए क्योंकि वे कार्य महान् पाप द्वारा होते हैं। वे कार्य यदि बिल्कुल ही बन्द हो जाये तो इनके बन्द होने से संसार के लोगो का कोई काम नहीं रुक सकता। उदाहरण के लिए यदि कोई आदमी कोयला बनाकर बेचने या जंगल से लकडी काट कर बेचने का धन्धा न करे अथवा किसी से न करावे, तो इससे संसार के लोगो का क्या काम रुक सकता है? जिसे लकड़ी या कोयले की आवश्यकता होगी, वह स्वयं अपनी आवश्यकता पूरी कर सकता है। कर्मादान मे बताये गये व्यवसायों मे जितना अधिक पाप होता है, उतना अधिक आर्थिक लाभ भी नहीं होता। इसके सिवा ये व्यवसाय प्रकृति का सौन्दर्य नष्ट करने वाले एवं जनता को प्राकृतिक लाभ से वंचित रखने वाले भी हैं।

इन सब बातों को दृष्टि में रख कर श्रावकों को महान् पाप से बचाने एव उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त कराने के लिए ही भगवान् ने श्रावकों के लिए कर्मादान निषिद्ध कहे हैं। कर्मादान में गिने गये व्यवसाय करने वाला समाज की दृष्टि मे भी प्रतिष्ठित नहीं माना जाता।

पन्द्रह कर्मादान का त्याग श्रावक के मूल व्रतों मे गुण उत्पन्न करने वाला होने के साथ ही बुद्धि को निर्मल तथा चित्त मे समाधि रखने वाला है और आत्मा को कल्याण की ओर बढाने वाला है। इसलिए श्रावक को इन पन्द्रह कर्मादानो का त्याग करना चाहिए। इनके द्वारा आजीविका नही करनी चाहिए।

पन्द्रह कर्मादान सातवे व्रत के अतिचारो मे हैं । सातवे व्रत के 20 अतिचार है । जिनमें से 15 अतिचार 15 कर्मादान के ही कहलाते हैं और इनसे अलग पांच अतिचार दूसरे बताये गये है। श्रावक को इन 20 अतिचारो से बचते रहना चाहिए।

से बैठे हुए जानवर पर मार दी तो यह अनर्थदण्ड है। इस तरह के अनर्थदण्ड से निवृत्त होना इसको त्यागने की प्रतिज्ञा करना अनर्थदण्ड–विरमण–व्रत है।

श्रावक ने मूल व्रत स्वीकार करते समय जिन बातों की छूट रखी है, जिन बातों का आगार रखा है, उस छूट का उपयोग करने में अर्थ–अनर्थ यानि सार्थक और निरर्थक का अन्तर समझ कर निरर्थक उपयोग से बचना अनर्थदण्ड–विरमण–व्रत है। अनर्थदण्ड–विरमण–व्रत का उद्देश्य अर्थ–अनर्थ को जान कर अनर्थ से बचना है, निष्कारण ही किसी त्रस या स्थावर जीव को कष्ट देने से बचना है। अर्थात् यह कार्य मेरे लिए आवश्यक है या नही, इस बात का विवेक करके उन कार्यों से बचना है, जिनके किये बिना अपनी कोई आवश्यकता नही रुकती है और जिनके करने से किन्ही जीवों को निष्कारण ही कष्ट होता है।

श्रावक होने के कारण इस बात का ध्यान रखना उसका कर्त्तव्य है, कि मेरे द्वारा वही कार्य हो, मैं उसी आरम्भ–सारम्भ में पड़ूँ जिसका करना मेरे लिए आवश्यक है और जिसके करने से मेरा कोई उद्देश्य पूरा होता है। इस तरह का ध्यान रख कर उसे ऐसा कोई कार्य न करना चाहिये, जिससे किसी उद्देश्य–विशेष की पूर्ति नहीं होती, जिसके किये बिना कोई आवश्यकता नही रुकती, और जो केवल प्रमाद, कौतूहल अथवा रूढ़ि–परम्परा के कारण किये जाते हैं। श्रावक के लिए आरम्भ या हिंसा खुली है, फिर भी श्रावक इस छूट का उपयोग केवल सार्थक कार्यों मे ही कर सकता है, निरर्थक कार्यों मे नहीं कर सकता। इसलिए श्रावक को प्रत्येक कार्य के विषय मे यह विचार कर लेना चाहिए कि मेरे द्वारा किया जाने वाला यह कार्य मेरे किस आवश्यक उद्देश्य की पूर्ति करता है ? मेरा यह कार्य सार्थक है या निरर्थक ? और इस तरह का विवेक करके उसे उन कार्यों से सर्वथा बचना चाहिए जो किसी उद्देश्य को पूरा नहीं करते हैं, किन्तु निरर्थक हैं। इस तरह के निरर्थक कार्य चाहे रूढ़ि–परम्परा के नाम पर किये जाते हो अथवा और किसी कारण से। श्रावक को तो अनर्थदण्ड–विरमण व्रत स्वीकार करके ऐसे निरर्थक कार्य त्याग ही देने चाहिए।

आजकल रूढ़ि–परम्परा के नाम पर ऐसे अनुचित कार्य भी किये जाते हैं, जो किसी भी तरह लाभप्रद होने के बदले हानिप्रद ही होते हैं। इस तरह के कामों के औचित्य–अनौचित्य के विषय मे दूसरे लोग विचार करें या न करें और जो अनुचित, निरर्थक अथवा हानिप्रद कार्य हैं उन्हें त्यागें, या न त्यागें, लेकिन श्रावक को तो इस विषय मे विवेक रखना ही चाहिए, और रूढ़ि

अनर्थदण्ड होता है, शास्त्रकार उसे अपध्यान चरित, अनर्थदण्ड कहते हैं। यानी बुरे विचारों से होने वाला अनर्थदण्ड।

अपध्यान के शास्त्रकारों ने आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान ये दो भेद किये हैं। आर्त्तध्यान 'आ' और 'ऋत' इन दो शब्दों से बना है। ऋत का अर्थ–दुःख है। ऋत शब्द मे 'आ' उपसर्ग लगा कर ऋत को प्रबल बनाया गया है । इस प्रकार आर्त्तध्यान का अर्थ दुःख के कारण उत्पन्न बुरे विचारों में मन को एकाग्र करना है। शास्त्रकारो ने आर्त्तध्यान के भी चार भेद किये हैं।

(1) अनिष्ट का सयोग होने पर, (2) इष्ट का वियोग होने पर, (3) रोगादि होने पर और (4) इष्ट की प्राप्ति के लिए उत्पन्न चिन्ता या दुःख। इन चार तरह के दुःख के होने पर पीडा से अथवा दुःख से मुक्त होने के लिए उत्पन्न बुरे विचारों मे मन का एकाग्र होना आर्त्तध्यान है। आर्त्तध्यान के इन चारो भेदो के विषय में कुछ अधिक स्पष्टीकरण होना आवश्यक है, जो नीचे किया जाता है।

अपनी हानि करने वाले, या जिस हानि को हमने अपनी हानि मान रखी है वह हानि करने वाले का संयोग होना अनिष्ट संयोग कहलाता है। अपना या अपने स्वजन का शरीर, धन आदि नष्ट करने वाले–विष; अग्नि, शस्त्र, हिंस्र पशु, दुष्ट या दैत्यादि भयंकर प्राणियों का संयोग हो जाना अनिष्ट सयोग है। अनिष्ट सयोग से उत्पन्न दुःख के कारण, अथवा ऐसे अनिष्ट सयोग स छुटकारा पाने के लिये, मन में जो बुरे तथा दुःख भरे विचार उत्पन्न होते हैं उन विचारो मे मन का तल्लीन होना आर्त्तध्यान का पहला भेद है।

अपने प्रिय–राज्य, धन, स्त्री, पुत्र प्रभृति के वियोग का दुःख होने पर जो दुःखपूर्ण बुरे विचार उत्पन्न होते हैं, उन बुरे विचारों मे मन का एकाग्र होना आर्त्तध्यान का दूसरा भेद है।

आर्त्तध्यान का तीसरा भेद शारीरिक रोगो रो होने वाले दुःख के कारण, अथवा ऐसे दुःख से मुक्ति मिलने की चिन्ता के कारण, उत्पन्न दुःख–पूर्ण बुरे विचारो मे मन का एकाग्र होना है। और आर्त्तध्यान का चौथा भेद है विषय भोग के अप्राप्त पदार्थों के कारण दुःख या प्राप्ति की चिन्ता के कारण उत्पन्न दुःख पूर्ण बुरे विचारो मे मन का एकाग्र होना। उदाहरण के लिए, 'हाय! मुझे वह चीज क्यो नहीं मिली? मैं वह चीज कैसे प्राप्त करू? आदि'।

अर्थात् – मद, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा इन पांच प्रमादो का सेवन करके जीव इस संसार–समुद्र मे गिरता है।

1 मद :– मद शब्द के दो अर्थ होते हैं, एक तो अहकार और दूसरा मदिरा (शराब)। अहकार भी उन्मत्तता देता है और मदिरा भी। मद प्रमाद का मुख्य उत्पादक और आत्मा को पतित करने वाला है।

2 विषय :– पांच इन्द्रियों के 23 विषय है, जिनमे फसकर आत्मा अपने आपको भूल जाता है। जिसकी इन्द्रिया विषयासक्त हो जाती हैं, वह व्यक्ति अपने प्राणों को भी जोखिम में डाल देता है।

3 कषाय :– क्रोधादि कषाय का प्रकोप होने पर आत्मा बेभान हो जाता है, अपने आपे में नहीं रहता।

4 निद्रा :– निद्रा भी आत्मा की सावधानी का अपहरण करती है। निद्राधीन लोगो को अनेक प्रकार की हानि उठानी पडती है।

5 विकथा :– जिनके कहने–सुनने से कोई लाभ नही, उन बातो की गणना विकथा मे है। विकथा आत्मा के गुणों का नाश करने वाली होती है।

ये पाच प्रमाद अनर्थ दण्ड में हैं। संसार मे रहने वाला व्यक्ति प्रमाद का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता। इसलिए प्रमाद के भी सकारण और अकारण भेद करके कहा गया है, कि सकारण प्रमाद अर्थ दण्ड मे है और निष्कारण प्रमाद अनर्थ दण्ड है।

3 हिंसाप्रदान

अनर्थ दण्ड का तीसरा भेद है हिंसप्पयाणे यानी हिंसा मे सहायक होना। टीकाकार कहते हैं–

हिंसा हेतुत्वादायुधानल विषादयो हिंसोच्यते, तेषां प्रदानम्
अन्यस्मै क्रोधाभि भूताय, अनभि भूताय, प्रदानं–परेषां समर्पणम्।

अर्थात्–जिससे हिंसा होती है, उन अस्त्र, शस्त्र, आग, विष आदि हिंसा के साधनों को क्रोध से भरे हुए अथवा क्रोधहीन के हाथो मे दे देना, हिंसप्पयाणे या हिंसा मे सहायक होना है।

उदाहरण के लिए—एक गृहस्थ न्यायपूर्वक द्रव्योपार्जन करता है और आजीविका चलाता है। इस कार्य में उससे अर्थ दण्ड तो होता ही है। अब यदि वह अर्थ दण्ड से बचने के लिए न्याय पूर्वक की जाने वाली आजीविका का त्याग कर देता है तो उस दशा मे वह भूखे मरने से तो रहा ! फिर तो उसके लिए चोरी, डकैती, ठगी अथवा ऐसे ही दूसरे कार्य करने आवश्यक हो जाते हैं, और चोरी अथवा चोरी की ही तरह के दूसरे कार्य करने से मूल व्रत की भी घात होगी और अर्थ दण्ड के स्थान पर अनर्थदण्ड होगा। इस प्रकार गृहस्थ होते हुए भी अर्थदण्ड सर्वथा त्यागने का प्रयत्न करना अपने को अनर्थदण्ड मे डालना है। ज्ञानियो ने इस बात को दृष्टि में रख कर ही गृहस्थों के लिए अनर्थदण्ड सर्वथा त्यागने और अर्थदण्ड से यथाशक्ति बचने का विधान किया है। हाँ, किसी समय विशेष के लिए गृहस्थ अर्थदण्ड से भी बच सकता है जैसे कि सामायिक, पौषध आदि व्रतों के समय अर्थदण्ड सर्वथा त्यागा जाता है।

आज कल बहुत से लोग गृहस्थ श्रावक को अर्थदण्ड को बिना समझे त्याग कराते हैं। परिणाम यह होता है, कि 'लेने गई पूत और खो आई पति' कहावत के अनुसार अर्थ दण्ड के बदले अनर्थदण्ड गले पड जाता है। उदाहरण के लिए—यदि अर्थदण्ड से बचने के वास्ते स्वास्थ्यरक्षक कार्यों की उपेक्षा की जायेगी, उन्हे त्याग दिया जायेगा, तो शरीर मे रोग होने पर उन भ्रष्ट दवाइयो का सेवन करना पडेगा, जिनके सेवन से महापाप होता है। अथवा अर्थदण्ड से बचने के लिए सब लोग कृषि करना त्याग दे, तो क्या काम चल सकता है? क्या उस दशा में भूखे मरते हुए लोग मास का सेवन न करेंगे? और भयकर पाप में न पडेगे? खेती आदि करने मे अर्थदण्ड तो अवश्य होता है, लेकिन यह अनर्थदण्ड से बचाने वाला है।

मतलब यह कि, गृहस्थो से अर्थदण्ड का त्याग कराना उन्हे अनर्थदण्ड मे डालना है। इस बात को दृष्टि मे रख कर ही शास्त्रकारो ने गृहस्थो पर अर्थदण्ड त्यागने का भार न डाल अनर्थदण्ड त्यागने का ही भार डाला है। और इसी से व्रत का नाम अनर्थदण्ड--विरमण–व्रत है, जिसका सब जीवो के लिए अंगीकार करने का विधान है।

वस्तुओं का अधिक और निष्प्रयोजन संग्रह रखना सयुक्ताधिकरण नाम का चौथा अतिचार है।

5 पाचवां अतिचार उपभोग परिभोगातिरिक्त है। उपभोग–परिभोग परिमाणव्रत स्वीकार करते हुए जो पदार्थ मर्यादा मे रखे गये हैं उनमे अत्यधिक आसक्त रहना, उनमे आनन्द मान कर उनका बार–बार उपयोग करना, उनका उपयोग जीवन–निर्वाह के लिए नही किन्तु स्वाद या आनन्द के लिए करना उपभोग–परिभोग का पाचवा अतिचार है। उदाहरण के लिए पेट भरा होने पर भी स्वाद के लिए खाना, अथवा आवश्यकता न होने पर भी शौक के लिए वस्त्रादि का धारण करना या उन्हें बार–बार बदलना, अथवा आनन्द के लिए अनावश्यक ही बार–बार स्नान करना आदि उपभोग परिभोगाइरित्ते मे गर्भित है।

श्रावकों को इन पाचों अतिचारो का स्वरूप समझ कर इनसे बचते रहना चाहिए। ऐसा करने से उनका व्रत निर्मल रहेगा और वे आत्मा का कल्याण कर सकेंगे।

इन तीन गुणव्रतो का विस्तार जितना भी किया जावे, हो सकता है। सारे ससार की समालोचना इन व्रत के वर्णन मे हो सकती है–जो महाज्ञानी लोग ही कर सकते हैं। सक्षेप मे ही हमने स्वरूप समझाने की चेष्टा की है। आशा है सुज्ञजन इससे तत्त्वलाभ प्राप्त करके आत्मोत्थान के लिए प्रवत होंगे। इत्यलम्।

शिक्षा व्रत स्वीकार करने का अर्थ है, आत्मा को जागृत रख कर शुद्ध दशा प्रकट करने के लिए विशेष उद्यमी बनाना। इसलिए अब यह देखते हैं, कि श्रावक के बारह व्रतों मे से पिछले चार व्रतो को शिक्षा व्रत क्यों कहा जाता है? इन चार व्रतों से शेष आठ व्रतों का क्या संबध है और इन चार व्रतो का पिछले आठ व्रतों पर क्या प्रभाव पडता है।

श्रावक जो व्रत स्वीकार करता है, वे सर्व देश से नहीं किन्तु एक देश से होते हैं। इसलिए श्रावक की त्यागबुद्धि को सिंचन मिलना अत्यावश्यक है। पाच अणुव्रतों को सिंचन मिलता रहे, इसलिए तीन गुण व्रत स्वीकार करके अपनी आवश्यकताएं सीमित कर दी जाती है और पुद्गलो मे आनन्द मानना त्याग कर जीवन-निर्वाह के लिए बहुत थोडे पदार्थों का उपभोग किया जाता है। लेकिन यह वृत्ति तभी टिकी रह सकती है, जब आत्मा-अनात्मा का भान हो और पदार्थ तथा आत्मा का भेदविज्ञान हो। सामायिकादि चार शिक्षा व्रत आत्म-भान को जागृत बनाये रखने और भेदविज्ञान स्थिर रखने के साधन हैं। इसलिए इन चार व्रतों का जितना भी अधिक आचरण किया जावेगा, पूर्व के आठ व्रतो पर उतना ही अधिक प्रभाव पडेगा और वे उतने ही अधिक विशुद्ध होते जायेगे।

शिक्षा व्रत पूर्व के आठ व्रतों की भांति यावज्जीवन के लिए स्वीकार नही किये जाते हैं, किन्तु गृहकार्यादि से अवकाश पाकर उस अवकाश का सदुपयोग इन व्रतों के आचरण द्वारा करने का विधान है।

सामायिक व्रत का आचरण करके श्रावक यह विचार करे कि मैंने जो स्थूल अहिसादि व्रत स्वीकार किये है । उन व्रतो के द्वारा मुझ में किस अश तक समभाव आया है? इसी प्रकार दिक्-परिमाणादि व्रतों द्वारा मुझ में सासारिक पदार्थों के प्रति कितनी विरक्ति आई है? तथा मैं आत्मा को समाधि भाव मे किस अश तक स्थिर कर सका हू ? सामायिक व्रत मूल व्रतो की परीक्षा स्वरूप है। देशावकाशिक व्रत द्वारा कुछ समय के लिए विशेष

सामायिक व्रत

उपोद्घात

जैन समाज मे सामायिक का बहुत ही महत्त्व है। सामायिक करने के लिए उपदेश दिया जाता है, आग्रह किया जाता है, तथा यह प्रतिज्ञा भी कराई जाती है कि एक दिन या एक महीने मे चार सामायिक अवश्य ही करूगा। दूसरे त्याग प्रत्याख्यान या श्रावकत्व विषयक आवश्यक योग्यता की उतनी अधिक अपेक्षा नही की जाती, जितनी सामायिक की की जाती है। साधु महात्मा और धार्मिक लोग सामायिक के लिए अधिक प्रेरणा करते भी देखे जाते हैं। उनकी सामायिक विषयक प्रेरणा को उचित एव हितावह मानने मे दो मत नही हो सकते। क्योकि सामायिक का महत्त्व ही ऐसा है। ऐसा होते हुए भी सामायिक के प्रति पहले के लोगों में जैसी श्रद्धा थी या वर्तमान के वृद्ध लोगो में जैसी श्रद्धा देखी जाती है और वे सामायिक विषयक उपदेश—आदेश अथवा प्रेरणा का जितना आदर करते हैं, उतना आदर या सामायिक के प्रति वैसी श्रद्धा वर्तमान नवयुवको मे नहीं देखी जाती। इस अन्तर का कोई कारण भी अवश्य ही होना चाहिए। विचार करने पर इसका यही कारण जान पडता है कि साधु महात्माओं अथवा धार्मिक गृहस्थो की ओर से सामायिक करने के लिए की जाने वाली प्रेरणा के परिणाम मे सामायिक की विशद व्याख्या, सामायिक का महत्त्व एव उद्देश्य आदि समझाने का प्रयत्न उतना नहीं किया जाता है। वर्तमान नवयुवको के सामने न तो कोई ऐसा आदर्श ही है, न साहित्य ही है जिसको देखकर सामायिक की ओर उनकी रुचि बढे। सामायिक विषयक जो थोडासा साहित्य है, वह भी ऐसा है कि जिसे थोडे [illegible] लोग ही जान सकते है, जिनकी गणना विद्वानो मे है। जन—साधारण मे सामायिक विषयक साहित्य का प्रचार नही है। इस कारण सामायिक करने

सामायिक व्रत

सामायिक व्रत श्रावक के बारह व्रतों मे से नवॉ और श्रावक के चार शिक्षा व्रतो मे से पहला है। यह व्रत पांच मूल और तीन गुण ऐसे आठ व्रतों को विशुद्ध रखने एव आत्मज्योति प्रकटाने की शिक्षा प्रदान करता है। इसीलिए इस व्रत की गणना चार शिक्षा व्रतों मे की गई है। आत्मा मे प्रदीप्त विषय–कषाय की आग को शान्त करके आत्मा को पवित्र बनाने एव बन्धन–रहित करने के लिए सामायिक व्रत मुख्य साधन है। इस व्रत के आचरण से आत्मा मे परम शान्ति प्राप्त होती है। इसलिए सांसारिक उपाधियो से समय बचाकर इस व्रत के आचरण मे जितना भी अधिक समय लगाया जा सके, उतना ही अच्छा है।

अब देखना यह है कि सामायिक किसे कहते हैं? सामायिक किस उद्देश्य से की जाती है? सामायिक करने से लाभ क्या है? और सामायिक किस तरह करनी चाहिए? जिससे उस सामायिक का दूसरों पर प्रभाव पड़े और अपने ध्येय के समीप पहुचने मे सिद्धि प्राप्त हो। इन चार विषयों मे से प्रथम सामायिक किसे कहते है, यह बताने के लिए टीकाकार कहते है–

समो रागद्वेषवियुक्तो यः सर्वभूतान्यात्मवत्–पश्यति, तस्य आयो। लाभ. प्राप्तिरिति पर्यायाः।। अन्यच्च समस्य आयः समायः, समो हि। प्रतिक्षण मपूर्वैर्ज्ञान दर्शन चरण –पर्यायैर्भवाटवी भ्रमण संकल्प विच्छेदकै–र्निरुपम– सुखहेतुभि रयः कृत चिन्तामणि - कामधेनु कल्पद्रुमोपमैर्युज्यत स एव समायः प्रयोजन मस्य क्रियानुष्ठानस्येति मूलगुणा नामाधारभूत सर्वसावद्य विरति रूप – चारित्रम् सामायिक, समाय एवं सामायिकम्।

अरिहन्त भगवान् के स्वरूप का ध्यान करके यह माने कि मेरी भी आत्मा ऐसी ही है। अन्तर केवल यही है कि अरिहन्त भगवान् ने आत्मा रूपी सूर्य का प्रकाश रोकने वाले कर्म रूपी आवरण को नष्ट कर दिया है, लेकिन मेरी आत्मा कर्म–मल से आच्छादित है। उस कर्म–मल को हटा देने पर इस परमात्म–स्वरूप मे और मेरे मे कोई अन्तर नही है। इस प्रकार की भावना करते हुए, जीवनयुक्त–अजन्मा और नष्ट पाप परमात्मा से तन्मयता साधना रूपस्थ ध्यान है।

इति विगत विकल्पं क्षीणरागादि दोषं,
विदित सकलवेद्यं त्यक्त विश्व प्रपंचम्।
शिवमजमनवद्यं विश्व लोकैक नाथम्।
परमपुरुष मुच्चैर्भावशुद्ध्या भजस्व।।

अर्थात्–जिनके समस्त विकल्प मिट गये हैं, रागादि दोष क्षीण हो चुके है, जो समस्त पदार्थो को जानते हैं, जिन्होंने जन्म–मरण का प्रवाह नष्ट कर दिया है, जो पाप–रहित हो गये हैं, जो समस्त लोक के नाथ होकर लोकाग्र पर स्थित है, उन रूपातीत सिद्ध भगवान् के स्वरूप का चिन्तन करके अपने को उस में लीन कर दे, उनके स्वरूप से आत्मा की तुलना करता हुआ सत्ता की अपेक्षा से आत्मा को भी उनके समान जानकर आत्मा का वैसा ही रूप प्रकट करने के लिए उनके ध्यान में तल्लीन हो जाना रूपातीत ध्यान है।

ऊपर बताये गये ध्यानों मे रमण करने का नाम ही सामायिक है। ऐसे ध्यान के द्वारा आत्मा समभाव को प्राप्त होता है।

को न समझना है। जिन लोगों को जैन सिद्धात का थोडा भी अभ्यास है वे तो यही मानेगे कि हमे क्रिया अवश्य ही करनी चाहिए। यद्यपि होता तो वही है जो अतिशय ज्ञानियों ने अपने ज्ञान मे देखा है देखते हैं लेकिन उन ज्ञानियो ने अपने ज्ञान मे किन भावो को देखा है इस बात का पता अल्पज्ञों को नहीं हो सकता। इसलिए अल्पज्ञो के लिए तो यही सिद्धात मानना ठीक है कि जैसा हम करेगे वैसा ही होगा। शास्त्र में भी कहा है–

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिओ सुपट्ठिओ।।

(श्री उत्तराध्ययन सूत्र)

अर्थात्–सन्मार्ग और कुमार्ग पर लगा हुआ अपना आत्मा ही सुख और दुःख का कर्त्ता है। अपना आत्मा ही अपना मित्र और (शत्रु) है। इस प्रकार आत्मा ही कर्त्ता तथा भोक्ता है। आत्मा जैसा करता है, वैसा ही फल भोगता है इसके लिए कहा है–

सुचिण्णा कम्मा, सुचिण्णा फला भवन्ति।
दुच्चिण्णा कम्मा, दुच्चिण्णा फला भवन्ति।।

अर्थात्–आत्मा जैसा शुभ या अशुभ कर्म करता है, वैसा ही शुभ या अशुभ फल भी भोगता है।

किये हुए शुभाशुभ कर्म का फल भोगने में तो आत्मा का वश चलता भी है और नही भी चलता है, लेकिन कर्म करने में तो आत्मा स्वतन्त्र है। ऐसा होते हुए भी कई लोग कर्म या भाग्य की ओट ले लेते हैं, लेकिन ऐसा करना केवल अपनी कायरता को ढॉकने का प्रयत्न करना है। यदि आत्मा चाहे तो वह सब कुछ करने मे समर्थ है तथा असाध्य को भी साध्य बना सकता है। इसलिए यही उचित है कि आत्मा को सावधान रखकर क्रिया की जावे। क्रिया करने का कोई ध्येय तो अवश्य ही होना चाहिए। आत्म कल्याण के लिए समभाव की प्राप्ति को ध्येय बना कर क्रिया करना ही श्रेष्ठ है। समभाव प्राप्त करने के लिए अभ्यास रूप जो क्रिया की जाती है, उस क्रिया का नाम ही सामायिक है। सामायिक का स्वरूप बताने के लिए कहा गया है कि–

सावद्यकर्म मुक्तस्य, दुर्ध्यान रहितस्य च।
समभावो मुहूर्त्त तद्, व्रतं सामायिकाह्वयम्।।

अर्थात्–सावद्य (पाप सहित) कर्म से मुक्त होकर आत्मा को पतित करने वाले आर्त्त रौद्र ध्यान को दूर करके आत्मा को पवित्र बना कर मुहूर्त्त मात्र के लिए समभाव धारण करना ही सामायिक व्रत है।

इसका भावार्थ यह है कि ऐसा विचार करना, ऐसी भाषा बोलना या ऐसा कार्य करना कि जिससे किसी भी प्राणी के प्राणो को आघात पहुंचे, वह हिंसा है और ऐसी हिंसा ही 'प्राणातिपात' पाप है।

2 मृषावाद– जो बात जैसी है या जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा न कह कर विपरीत कहना, बताना और वास्तविकता को छिपाना 'मृषावाद' है। ऐसा करने से कई प्रकार के अनर्थ होते हैं, इसलिए यह भी पाप है।

3 अदत्तादान –जो पदार्थ अपना नहीं किन्तु दूसरे का है वह सचित्त या अचित्त या मिश्र पदार्थ कुछ भी हो, उस पदार्थ को मालिक से छिपा कर गुप्त रीति से ग्रहण करना चोरी है। अथवा दूसरे के अधिकार की वस्तु पर जबरदस्ती अपना अधिकार जमा लेना भी चोरी है। क्योंकि इससे उसकी आत्मा दुःख पाती है। इस तरह की चोरी 'अदत्तादान' नामक पाप है।

4 मैथुन–मोह दशा से विकल होकर स्त्री आदि मोहक पदार्थ पर आसक्त हो स्त्री पुरुष का परस्पर वेद–जन्य चेष्टा करना (विकार में प्रवृत्त होना) मैथुन है। 'मैथुन' मे फंसे हुए लोग अकृत्य भी कर डालते हैं और आत्म–भाव को भूल जाते हैं। इसलिए 'मैथुन' भी पाप है।

5 परिग्रह –किसी भी सचित्त या अचित्त अथवा मिश्र पदार्थ के प्रति ममत्व रखना, उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करना, प्राप्त पदार्थ को संग्रह करना, उन्हे अपने अधिकार मे रखने की चेष्टा करना और उनके प्रति आसक्त रहना 'परिग्रह' है। परिग्रह के लिए अनेक अनर्थ किये जाते हैं, इसलिए यह भी पाप है।

6 क्रोध –किसी निमित्त के कारण अथवा अकारण अपने या दूसरे के आत्मा को तप्त करना 'क्रोध' है। जब क्रोध होता है तब अज्ञानवश हिताहित नही सूझता है, लेकिन क्रोधावेश में किये गये कार्य के लिए फिर पश्चात्ताप होता है। क्रोध कलह का मूल है इसलिए 'क्रोध' भी पाप है।

7 मान –दूसरे को तुच्छ और अपने आपको महान् मानना 'मान' है। मानी व्यक्ति ऐसे–ऐसे शब्दो का प्रयोग कर डालता है। जिन्हें सुनकर दूसरे को बहुत दुःख होता है और दूसरे के हृदय में प्रति–हिंसा की भावना जागृत होती है। इसलिए 'मान' भी पाप है।

8 माया –अपने स्वार्थ के लिए दूसरे को ठगने और धोखा देने की जो चेष्टा की जाती है, उसे 'माया' कहते है। माया के कारण दूसरे प्राणी को कष्ट मे पड़ना पडता है, इसलिए 'माया' भी पाप है।

9 लोभ –हृदय में किसी चीज की अत्यधिक चाह रखने का नाम 'लोभ' है। लोभ ऐसा दुर्गुण है कि जिसके कारण सभी पापो का आचरण किया जा सकता है। दशवैकालिक सूत्र मे कहा है कि क्रोध मान और माया से तो एक–एक सद्‌गुण का ही नाश होता है, लेकिन लोभ सभी सद्‌गुणों का नष्ट करता है। इसी कारण 'लोभ' की गणना पाप में की गई है।

10 राग –किसी भी पदार्थ के प्रति आसक्ति रूप प्रेम होने का नाम 'राग' है अथवा सुख की अनुसंगति को भी 'राग' कहते हैं। वास्तव मे कोई भी वस्तु अपनी नहीं है परन्तु जब उस वस्तु को अपनी मान लिया जाता है, तब उसके प्रति राग होता है और जहा राग है वहां सभी अनर्थ सम्भव हैं। इसलिए 'राग' को भी पाप में माना गया है।

11 द्वेष –अपनी प्रकृति के प्रतिकूल बात सुनकर या कार्य अथवा पदार्थ देख कर जल उठना, उस बात, कार्य या पदार्थ को न चाहना और उस बात, कार्य या पदार्थ को निःशेष करने की भावना अथवा प्रवृत्ति करना द्वेष है। 'द्वेष' की गणना भी पाप में है।

12 कलह –किसी भी अप्रशस्त संयोग के मिलने से मन में कुढकर वाग्युद्ध करना 'कलह' है। कलह से अपनी आत्मा को भी परिताप होता है और दूसरे को भी। इसलिए 'कलह' भी पाप है।

13 अभ्याख्यान –किसी भी मनुष्य पर कोई बहाना पाकर दोषारोपण करना, कलंक चढ़ाना, 'अभ्याख्यान' है, जो पाप है।

14 पैशुन्य –किसी मनुष्य के संबंध में चुगली खाना (करना) इधर की बात उधर लगाना 'पैशुन्य' है। पैशुन्य की गणना भी पाप मे है।

15 परपरिवाद –किसी की बढ़ती न देख सकने के कारण उस पर सच्चा–झूठा दूषण लगा कर उसकी निन्दा करना 'परपरिवाद' है। यह भी पाप है।

16 रति–अरति– निज स्वरूप को भूल कर परभाव में पडा हुआ पुद्‌गलों में आनन्द मानने वाला व्यक्ति अनुकूल वस्तु की प्राप्ति से आनन्द और प्रतिकूल वस्तु की प्राप्ति से दुःख मानता है। यह 'रति–अरति' है जो पाप है।

17 मायामृषावाद –कपट सहित झूठ बोलना, यानि इस तरह चालाकी से बोलना या ऐसा व्यवहार करना कि प्रकट में सत्य दीखे परन्तु वास्तव मे झूठ है और जिसको दूसरे व्यक्ति सत्य तथा सरल मान कर नाराज न हो 'मायामृषा' है। आजकल जिसे पॉलिसी कहते हैं, वह पॉलिसी शास्त्र के शब्दों मे माया मृषा है, जो पाप है।

सामायिक स्वीकार करने वाला सामायिक ग्रहण करने के समय यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं जीवन भर मन, वचन, काय द्वारा न तो कोई पाप करूंगा, न कराऊंगा और न किसी पाप का अनुमोदन ही करूगा। यानि सर्व सामायिक स्वीकार करने वाला व्यक्ति पाप के अनुमोदन का भी त्याग करता है।

दोनों प्रकार की सामायिक का उद्देश्य तो यही है कि जो आत्मा अनादिकाल से विषय--कषाय में फंसकर पापपूर्ण कार्य करने के कारण कर्मों के लेप से भारी हो रहा है, उसको इन कार्यों के त्याग और समभाव की प्राप्ति द्वारा हल्का किया जावे। देश या सर्व सामायिक पूर्ण समभाव प्राप्त करने का अनुष्ठान है। लेकिन अनुष्ठान तभी सफल होता है जव वह विधि--पूर्वक किया जावे और आत्मा एकाग्र होकर उस अनुष्ठान को करे। अनुष्ठान तब तक सिद्ध नहीं हो सकता, जब तक चित्त में एकाग्रता न हो और चित्त तभी एकाग्र हो सकता है, जब उसको स्थिर किया जावे तथा इन्द्रियों में चंचलता न रहे। इसलिए सामायिक करने वाले मुमुक्षु को इस बात की सावधानी रखनी चाहिए और यह पता लगाते रहना चाहिए कि मेरे मन की चंचलता मिटी है या नहीं? और इन्द्रियां विषयलोलुप होकर विषयों की ओर दौड़ती तो नहीं हैं? सामायिक मन और इन्द्रियों की चंचलता मिटाने का अभ्यास है। अतः सामायिक की शुद्धता और सफलता तभी समझनी चाहिए जब इन्द्रियां विषयों की ओर आकर्षित न हों और मन इधर--उधर न दौड़े। चाहे जैसे सुहावने शब्द या गान--वाद्य हों अथवा चाहे जैसे कठोर एवं कर्कश शब्द हों, उनको सुनकर कान न तो हर्षित हों और न व्याकुल ही हों। सामने चाहे जैसा सुन्दर या भयंकर रूप आवे आंखें उस रूप को देखकर न तो प्रसन्नता मानें न व्यथित या भयभीत हों। इसी प्रकार जब पांचों इन्द्रियां अनुकूल विषय की ओर आकर्षित न हों, प्रतिकूल विषय से घृणा न करें तथा मन में भी ऐसे समय पर रागद्वेष न आवे किन्तु समतोल रहे तब समझना कि हमारी सामायिक शुद्ध है एवं हमारी साधना सफलता की ओर बढ़ रही है। यदि इसके विरुद्ध प्रवृत्ति हो तो उस दशा में साधना--अनुष्ठान का सफल होना कठिन है। इसलिए सामायिक करने वाले को इन्द्रियों और मन की चंचलता मिटाने तथा प्रत्येक दशा में समाधिभाव रखने का प्रयत्न करना चाहिए। और इसी बात को अपना लक्ष्य बनाकर इस लक्ष्य की ओर अधिक से अधिक बढ़ते जाना चाहिए। ऐसा करने पर सामायिक--क्रिया के द्वारा कभी पूर्ण समभाव भी प्राप्त किया जा सकता है । और आत्मा पूर्णता पर पहुंच सकता है। जब आत्मा में पूर्ण समभाव होगा तब आत्मा जीवन मुक्त होकर परमात्मा बन जावेगा।

करने से परमपद की प्राप्ति हो सकती है, आप्त महापुरुषों की भक्ति और उन महापुरुषों के गुणानुवाद में मन लगा देना चाहिए। ऐसा करने पर आत्मा समभाव के समीप पहुंचेगा।

मन को स्थिर करने के लिए शास्त्रकारों ने पांच प्रशस्त साधन बताये है। वे पांच साधन इस प्रकार हैं—वाचना, प्रच्छना, पर्यटना, अनुप्रेक्षा और धर्म—कथा। इन पांचों का रूप थोड़े में बताया जाता है।

1—वाचना से मतलब है प्रशस्त साहित्य का पढ़ना। प्रशस्त साहित्य वही है जो सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी अर्हन्त भगवान् का कहा हुआ प्रवचन हो और जिसे सर्व अक्षर सन्निपाति गणधरों ने सूत्र रूप में गूंथा हो। ऐसे साहित्य के आधार से निर्मित ग्रन्थों की गणना भी प्रशस्त साहित्य में है।

इस व्याख्या के अनुसार यह प्रश्न होता है कि क्या ऐसे साहित्य के सिवा शेष साहित्य प्रशस्त नहीं है? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जायेगा कि जिसकी दृष्टि सम है, जिसको सच्चे तत्त्व का बोध है उसके लिए सभी साहित्य प्रशस्त हो सकते है, ऐसा नन्दी सूत्र में कहा है। समदृष्टि और सच्चे तत्त्व को जानने वाला व्यक्ति जिस साहित्य को भी देखेगा, उस साहित्य में से तत्त्व निकाल कर उस तत्त्व का सम्यक् परिणमन ही करेगा। लेकिन ऐसी शक्ति आप्त वाक्य ही प्रदान करते हैं, इसलिए जिसे आप्त वचन का बोध है, वही व्यक्ति दूसरे साहित्य से लाभ उठा सकता है। जिसको आप्त वचन का बोध नहीं है, वह व्यक्ति यदि दूसरा साहित्य देखेगा, तो लाभ के बदले हानि ही उठावेगा।

2—मन को स्थिर करने का दूसरा साधन 'पूछना' है। आप्त—साहित्य के वाचन से हृदय में तर्क—वितर्क का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। क्योंकि आप्त वाक्य अनन्त आशय वाले है, छद्मस्थ व्यक्ति उन्हे पूरी तरह नही समझ सकता। इसलिए हृदय में उत्पन्न तर्क—वितर्क के विषय में विशेष ज्ञानी से पूछ—ताछ करके समाधान किया जाता है।

3—तीसरा साधन 'पर्यटना' है। जो जानकारी प्राप्त की है जो ज्ञान मिला है, उसे हृदयंगम करने के लिए उस ज्ञान का बार—बार चिंतन करना, पर्यटना है। जब तक ज्ञानावरणीय कर्म का आवरण नही हटता है, तब तक प्राप्त ज्ञान ही नही टिकता। इसलिए प्राप्त ज्ञान का पुनः—पुनः आवर्त्तन अथवा पारायण करते रहना चाहिए। सामायिक में पर्यटना करने से चित्त स्थिर रहता है और आत्मा पर—भाव मे नहीं जाता है।

सामायिक के लाभ

अब यह देखते हैं कि सामायिक करने से क्या लाभ होता है? क्योंकि जब तक कार्य का फल ज्ञात नही होता, तब तक कार्य के प्रति रुचि नही होती और बिना रुचि का कार्य पूर्णता तक नहीं पहुचता। इसलिए यह जानना आवश्यक है कि सामायिक करने से लाभ क्या होता है?

सामायिक से क्या लाभ होता है? यह बताने के लिए श्री उत्तराध्ययन सूत्र के 29 वें अध्ययन मे गुरु–शिष्य के सवाद रूप से प्रश्नोत्तर किया गया है कि–

प्रश्न–सामाइएणं भंते! जीवे किं जणयइ?

उत्तर–सामाइएणं सावज्ज जोग विरई जणयइ।

इस प्रश्नोत्तर में शिष्य प्रश्न करता है कि हे भगवन्! सामायिक से जीव को क्या लाभ होता है? शिष्य के इस प्रश्न के उत्तर मे गुरु ने कहा कि सामायिक से जीव को सावद्य योग यानि पाप–प्रवृत्ति से दूर होने रूप महाफल की प्राप्ति होती है।

इस प्रश्नोत्तर मे गीतार्थ गुरु ने जो उत्तर दिया, उसे उन महा प्रज्ञावान् शिष्य ने समझ लिया होगा, लेकिन साधारण लोगो की समझ में तो उक्त उत्तर तभी आ सकता है, जब उसका कुछ विशेष स्पष्टीकरण किया जावे। गुरु ने सामायिक का फल बताते हुए न तो देव–भव संबंधी सुख का प्राप्त होना कहा है, न लब्धि आदि किसी सिद्धि का मिलना बताया है जिसे इसी लोक मे प्रत्यक्ष किया जा सके। इसलिए इस उत्तर का स्पष्टीकरण होना और भी आवश्यक है।

कार्य का फल देखने के लिए पहले यह देखना चाहिए कि हमारा उद्देश्य क्या है? हम सामायिक किस उद्देश्य से करते है? आत्मा अनादिकाल से पौद्गलिक सुख से परिचित हो रहा है और इस कारण पौद्गलिक सुख

इस प्रकार सामायिक का फल तत्काल प्राप्त होता है। यदि सामायिक ग्रहण करते ही उक्त फल न मिला, समभाव न हुआ, आत्मा विषय–कषाय की आग से जलता ही रहा, पौद्‌गलिक सुखो की लालसा न मिटी तो समझना कि अभी न तो हम विधिपूर्वक सामायिक ही ग्रहण कर सके है, न हमें सामायिक का फल ही मिला है। जिस सामायिक का तात्कालिक फल प्राप्त नहीं हुआ है, उसका परम्परा से प्राप्त होने वाला फल भी कैसे मिल सकता है? शास्त्रकारों ने स्पष्ट कह दिया है कि इस आत्मा ने द्रव्य सामायिक बहुत की है और रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि उपकरण भी इतने धारण किये तथा त्यागे है कि एकत्रित करने पर उनका ढ़ेर पर्वत की तरह हो सकता है, फिर भी उन सामायिकों या उपकरणो से आत्मा का कल्याण नही हुआ। इस असफलता का कारण सामायिक के तात्कालिक फल का न मिलना ही है। जिस सामायिक का तात्कालिक फल मिलता है, उसका परम्परा फल भी मिलता है और जिसका तात्कालिक फल नहीं मिलता उसका परम्परा से फल भी नहीं मिलता।

लोग सामायिक के फलस्वरूप पौद्‌गलिक सुख चाहते हैं। यानी इस भव में धन, जन, प्रतिष्ठा आदि और पर–भव मे इन्द्र अहमिन्द्रादि पद प्राप्त होने की इच्छा करते है। यदि यह मिला तब तो सामायिक आदि धर्म करणी को सफल समझते है अन्यथा निष्फल मानते है। इस प्रकार के विपरीत फल चाहने के कारण ही आत्मा अब तक सामायिक के वास्तविक फल से वचित रहा है। यदि अब भी आत्मा की भावना ऐसी ही रही यानि आत्मा सामायिक के फलस्वरूप इसी तरह की सासारिक सम्पदा चाहता रहा, तो आत्मा उस आध्यात्मिक लाभ से वचित रहेगा ही, जिसके सामने ससार की समस्त सम्पदा तुच्छ है। सामायिक के वास्तविक फल की तुलना में सासारिक सम्पदा किस प्रकार तुच्छ है, यह बताने के लिए भगवान महावीर के समय की एक घटना का वर्णन किया जाता है।

एक समय मगधाधिपति महाराजा श्रेणिक ने श्रमण भगवान महावीर से अपने भावी भव के सबध में पूछा। वीतराग भगवान महावीर को राजा श्रेणिक की प्रसन्नता–अप्रसन्नता की कोई अपेक्षा न थी। इसलिए राजा श्रेणिक के प्रश्न के उत्तर मे भगवान ने राजा श्रेणिक से कहा कि–राजन् ! यहा का आयुष्य पूर्ण करके तुम रत्नप्रभा पृथ्वी यानि प्रथम नरक मे उत्पन्न होओगे। राजा श्रेणिक ने भगवान् से फिर प्रश्न किया कि प्रभो! क्या कोई ऐसा उपाय भी है कि जिससे मै नरक की यातना से बच सकू? भगवान ने उत्तर दिया

है, वे लोग थोड़ा दुःख होते ही घबरा कर और थोड़ा सुख होते ही प्रसन्न होकर सामायिक के ध्येय को भूल जाते है, वे सामायिक को सफल नही बना सकते। जिनकी आत्मा दृढ है, वे लोग यह भावना रखते हैं कि–

होकर सुख मे मग्न न फूलूँ, दुःख में कभी न घबराऊँ।
पर्वत नदी श्मशान भयंकर, अटवी से नहिं भय खाऊँ।।
रहूँ सदा अडोल अकम्पित, यह मन दृढ़तर बन जावे।
इष्ट वियोग अनिष्ट योग में, सहन शीलता दिखलावे।।

जो इस प्रकार की भावना रखता है और ऐसी भावना को कार्यान्वित करता है, वही प्रत्येक स्थिति मे समभावी रह सकता है और सामायिक का फल प्राप्त करता है।

यह तो हुआ सामायिक के फल को अपने आप ही जानने की बात। किन्तु सामायिक करने वाले को ससार मे अपना बाह्य व्यवहार भी ऐसा रखना चाहिए कि जिससे जनता में भी सामायिक का फल प्राप्त होना जाना जा सके। इसके लिए उन कामो से सदा बचे रहना चाहिए जो आत्मा में विषम–भाव उत्पन्न करते है। यद्यपि ससार–व्यवहार मे रहे हुए व्यक्ति के लिए हिंसा, झूठ आदि का सर्वथा त्याग करना कठिन है फिर भी सामायिक करने वाले श्रावक का लक्ष्य यही होना चाहिए कि मैं अन्य समय में भी हिसा, झूठ आदि से जितना बच सकू, उतना ही अच्छा है। इस बात को लक्ष्य मे रखकर श्रावक को उन कामो से सदा बचे रहना चाहिए, जिनसे इस लोक मे अपकीर्ति होती है और परलोक बिगड़ता है।

कई लोग समझते है कि 'हम ससार–व्यवहार मे चाहे जो कुछ करे, हिसा, झूठ, चोरी आदि पाप कार्य का कितना भी आचरण करे, सामायिक कर लेने पर वे सब पाप नष्ट हो जाते है और हम पापमुक्त हो जाते है। संसार–व्यवहार तो पापपूर्ण ही है। पाप किये बिना संसार–व्यवहार चल ही नही सकता।' इस तरह समझने के कारण कई लोग कृत पाप से मुक्ति पाने के लिए ही सामायिक करते हैं किन्तु पाप–कार्य का त्याग आवश्यक नही मानते है। लेकिन इस तरह की समझ वाले लोगों ने सामायिक करने का उद्देश्य ही नही समझा है और न उन्हे सामायिक का फल ही ज्ञात हुआ है। ज्ञानियो का कथन है कि लोग कृत–पाप से मुक्ति पाने के लिए सामायिक करते है अर्थात् पाप–कार्य का त्याग न करके सामायिक द्वारा पाप के फल से बचना चाहते है। वे लोग वास्तव मे सामायिक नही करते हैं, किन्तु धर्म–ठगाई करते है। ऐसे व्यक्ति संसार से धर्म का अपमान कराते है और

सामायिक कैसी हो ?

सामायिक इस तरह करनी चाहिए कि जिससे दूसरे के हृदय में सामायिक के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो और दूसरे लोग सामायिक करने के लिए उद्यत हों। सामायिक करने के लिए सबसे पहले भूमिका की शुद्धि होना आवश्यक है। यदि भूमि शुद्ध होती है तो उसमें बोया हुआ बीज भी फल-दायक होता है। इसके विरुद्ध जो भूमि शुद्ध नही है, उसमें बोया गया बीज भी सुन्दर और सुस्वादु फल नहीं दे सकता। इसके अनुसार सामायिक के लिए भी भूमिका की शुद्धि आवश्यक है। सामायिक के लिए चार प्रकार की शुद्धि आवश्यक है। द्रव्य शुद्धि, क्षेत्र शुद्धि, काल शुद्धि और भाव शुद्धि। इस शुद्धि के साथ जो सामायिक की जाती है, वही सामायिक पूर्ण फलदायिनी हो सकती है। इन चारों तरह की शुद्धि की भी थोड़े में व्याख्या की जाती है।

1 द्रव्य शुद्धि– सामायिक के लिए जो द्रव्य-जैसे भण्डोपकरण, वस्त्र, पुस्तक आदि आवश्यक है उनका शुद्ध होना जरूरी है। भण्डोपकरण यानी मुंहपत्ती, आसन, रजोहरण, (पूजनी) माला (सुमरणी) आदि ऐसे हो जिनसे किसी प्रकार की अयतना न हो। ये उपकरण जीवों की यतना (रक्षा) के उद्देश्य से ही रखे जाते हैं, इसलिए ऐसे होने चाहिए कि जिनके द्वारा जीवो की यतना हो सके।

कई लोग सामायिक मे ऐसे आसन रखते हैं जो रूवे (रोयें) वाले या सिले हुए होते है, अथवा सुन्दरता के लिए रंग-बिरेगे टुकडो को जोड कर बनाये गये होते है। ऐसे आसन का भली-भांति प्रतिलेखन नही हो सकता। इसलिए आसन ऐसा होना ही अच्छा है जो साफ हो, बिना सिला हुआ एक ही टुकडे का हो, बहुरंगा न हो, न विकारोत्पादक भडकीला ही हो, किन्तु सादा हो। इस प्रकार पूंजनी और माला भी सादी तथा ऐसी ही होनी चाहिए कि जिनसे जीवो की यतना हो, किन्तु अयतना न हो। कई लोगों के पास ऐसी

इन चारों तरह की शुद्धि के साथ ही सामायिक बत्तीस दोषों से रहित होनी चाहिए। किन कार्यों से सामायिक दूषित होती है और कौन से दोष सामायिक का महत्व घटाते हैं, यह नीचे बताया जाता है।

अविवेक जसो कित्ती लाभत्थी, गव्व भय नियाणत्थी।
संसय रोस अविणउ अबहुमाणए दोसा भणियव्वा।।

1 अविवेक–सामायिक के संबध मे विवेक न रखना। कार्य के औचित्य–अनौचित्य अथवा समय–असमय का ध्यान न रखना 'अविवेक' नाम का पहला दोष है।

2 यशकीर्ति–सामायिक करने से मुझे यश प्राप्त होगा, अथवा मेरी प्रतिष्ठा होगी, समाज मे मेरा आदर होगा, या लोग मुझे धर्मात्मा कहेंगे आदि विचार से सामायिक करना 'यश–कीर्ति' नाम का दूसरा दोष है।

3 लाभार्थ–धन आदि के लाभ की इच्छा से सामायिक करना 'लाभार्थ' नाम का तीसरा दोष है। जैसे इस विचार से सामायिक करना कि सामायिक करने से व्यापार मे अच्छा लाभ होता है 'लाभार्थ' नाम का दोष है।

4 गर्व–सामायिक के संबध मे यह अभिमान करना कि मै बहुत सामायिक करने वाला हू, मेरी तरह या मेरे बराबर कौन सामायिक कर सकता है ? या मै कुलीन हू आदि गर्व करना 'गर्व' नाम का चौथा दोष है।

5 भय–किसी प्रकार के भय के कारण जैसे राज्य, पच या लेनदार आदि से बचने के लिए सामायिक करके बैठ जाना 'भय' नाम का पाचवां दोष है।

6 निदान–सामायिक का कोई भौतिक फल चाहना 'निदान' नाम का छठा दोष है। जैसे यह सकल्प करके सामायिक करना कि मुझे अमुक पदार्थ या सुख मिले, अथवा सामायिक करके यह चाहना कि यह मैने जो सामायिक की है, उसके फलस्वरूप मुझे अमुक वस्तु प्राप्त हो 'निदान' दोष है।

7 सन्देह–सामायिक के फल के सबध मे सन्देह रखना 'सन्देह' नाम का सातवा दोष है। जैसे यह सोचना कि मै जो सामायिक करता हू, मुझे उसका फल मिलेगा या नही, अथवा मैने इतनी सामायिक की फिर भी मुझे कोई फल नही मिला आदि सामायिक के फल के संबध मे सन्देह रखना 'सन्देह' नाम का सातवा दोष है।

8 कषाय–राग–द्वेष के कारण सामायिक मे क्रोध, मान, माया, लोभ करना 'कषाय' नाम का आठवा दोष है।

कुआसणं चलासणं चलदिट्ठी, सावज्ज किरिया लंबणा
कुंचण पसारणं। निद्दा वैयावच्चति बारस काय दोसा।।

1 **कुआसन**--कुआसन से बैठना जैसे पांव पर पांव चढ़ाना आदि 'कुआसन' दोष है।

2 **चलासन**--स्थिर आसन न बैठ कर बार-बार आसन बदलना, 'चलासन' दोष है।

3 **चल दृष्टि**--दृष्टि को स्थिर न रखना, बार--बार इधर उधर देखना 'चल दृष्टि' दोष है।

4 **सावद्य क्रिया**--शरीर से सावद्य क्रिया करना, इशारा करना, घर की रखवाली करना, 'सावद्य क्रिया' दोष है।

5 **आलम्बन**--बिना किसी कारण के दीवार आदि का सहारा लेकर बैठना 'आलम्बन' दोष है।

6 **अकुंचन पसारन**--बिना प्रयोजन ही हाथ-पांव फैलाना, समेटना, 'अकुचन पसारन' दोष है।

7 **आलस्य**--सामायिक मे बैठे हुए आलस्य मोडना (प्रकट करना) 'आलस्य' दोष है।

8 **मोडन**--सामायिक मे बैठे हाथ-पैर की उगुलियां चटकाना 'मोड़न' दोष है।

9 **मल दोष**--सामायिक मे बैठे हुए शरीर पर से मैल उतारना 'मल' दोष है।

10 **विमासन**--गाल पर हाथ लगा कर शोक-ग्रस्त की तरह बैठना, अथवा बिना पूजे शरीर खुजलाना या चलना 'विमासन' दोष है।

11 **निद्रा**--सामायिक में बैठे हुए निद्रा लेना, 'निद्रा' दोष है।

12 **वैयावृत्य अथवा कम्पन**--सामायिक मे बैठे हुए निष्कारण ही दूसरे से वैयावच्च कराना 'वैयावृत्य' दोष है और स्वाध्याय करते हुए घूमना यानि हिलना या शीत-उष्ण के कारण कापना 'कम्पन' दोष है।

ये बारह दोष काया के है। इन दोषो को टालने से कायशुद्धि होती है। मन, वचन और काय के दोष ऊपर बताये गये है, इन सब से बचना भाव शुद्धि है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, इन चारो की शुद्धि से सामायिक के लिए शुद्ध भूमिका तैयार होती है। विशुद्ध भूमिका मे पडा हुआ बीज ही निरोग अकुर देता है और जो वृक्ष निरोग है, वही फलद्रूप होता है।

सामायिक का पाठ बोल कर सामायिक ग्रहण करते है। विधि और उपयोग के अभाव के कारण चित्त का स्थिर न रहना स्वाभाविक है। और तब कहते है कि सामायिक मे हमारा चित्त तो स्थिर रहता ही नही है, हम सामायिक करके क्या करे? ऐसे लोगो की समझ मे यह नहीं आता कि जब हमने सामायिक की विधि का पालन ही उपयोग पूर्वक नही किया है, तब सामायिक मे हमारा चित्त लगे तो कैसे? चित्त बिना प्रयत्न के तो स्थिर होता नहीं है। इसके लिए प्रयत्न का होना भी आवश्यक है और सामायिक मे चित्त को स्थिर करने का पहला प्रयत्न उपयोग सहित सामायिक की विधि का पालन करना है।

चित्त की स्थिरता का आधार इच्छा–वासना की उपशान्ति पर भी है। जिसकी इच्छा–वासना जितने अश मे उपशान्त होगी या होती जायेगी, भोगोपभोग के साधनो के प्रति विरक्ति बढती जायेगी, उतने ही अश मे चित्त भी स्थिर रहेगा। इसलिए यदि सामायिक मे चित्त को स्थिर रखना है, तो उन कारणो को खोजकर मिटाना आवश्यक है जो चित्त मे अशान्ति उत्पन्न करने वाले हैं। जो मनुष्य चूल्हे पर चढी हुई कढाई के दूध को शान्त रखना चाहता है उसके लिए यह आवश्यक होगा कि वह कढ़ाई के नीचे जो आग जल रही है उसे अलग कर दे। कढाई के नीचे जलती हुई आग कायम रख कर भी कोई व्यक्ति कढाई मे भरे हुए दूध मे उबाल न आने देना चाहे, तो यह सम्भव नही है। दूध के नीचे प्रज्वलित आग होने पर दूध शान्त नही रह सकता, किन्तु उफान खावेगा ही। इसी तरह जब तक भोग्योपभोग्य पदार्थो के प्रति मन मे आसक्ति है, ममत्व है, तब तक चित्त स्थिर कैसे हो सकता है? चित्त को शान्त अथवा स्थिर करने के लिए यह आवश्यक है कि जिससे चित्त अशान्त रहता है, उन भोग्योपभोग्य पदार्थो का ममत्व त्याग दे और इस ओर अधिक से अधिक गति करे। शास्त्रकारो ने इसीलिए सामायिक से पहले वे आठ व्रत बताये हैं, जिनको स्वीकार करने पर इच्छा या वासना सीमित हो जाती है तथा चित्त की अशान्ति मिटती है। उन आठ व्रतो के पश्चात् सामायिक का नवॉ व्रत बताया है। शास्त्रकारो द्वारा बताये गये सामायिक के पहले के आठ व्रतों को समझपूर्वक जो भव्य जीव स्वीकार करते है, उनकी वासना भी सीमित हो जाती है और उनमे अर्थ–अनर्थ तथा कृत्याकृत्य का विवेक भी जागृत रहता है। इससे वे विवेकी जीव उपयोग सहित सामायिक की विधि का पालन करने और सामायिक के समय चित्त स्थिर रखने मे समर्थ होते हैं।

ले जाने के लिए कुछ लाई नही, फिर आग किसमे ले जाऊगी। मैं आग लाने के लिए कडा ले जाना भूल गई थी। पडोसिन के द्वार पर कुछ कंडे पडे हुए थे। मैने सहज भाव से उन कंडों मे से एक कडा उठा लिया और पडोसिन के यहा के उस कडे को भी मैने भोजन बनाते समय चूल्हे मे जला दिया। पडोसिन के घर से मैं बिना पूछे जो कंडा लाई थी वह कडा चोरी या बे-हक का था। इसलिए हो सकता है कि मेरे इस कार्य के कारण ही आपका चित्त सामायिक मे न लगा हो, क्योंकि उस कंडे को जलाकर बनाया गया भोजन आपने भी खाया था।

पत्नी का कथन सुनकर श्रावक न कहा—बस ठीक है। उस कंडे के कारण ही आज मेरा चित्त सामायिक मे नही लगा। क्योंकि वह कडा अन्यायोपार्जित था। अन्यायोपार्जित वस्तु या उसके द्वारा बनाया गया भोजन जब पेट में हो तब चित्त कैसे स्थिर रह सकता है ? अब तुम पडोसिन को एक के बदले दो कडे वापस करो, उससे क्षमा मागो और इस पाप का प्रायश्चित्त करो। श्राविका ने ऐसा ही किया। यह कथानक या घटना ऐसे ही घटी हो या रूपक मात्र हो। इसका मतलब तो यह है कि जो शुद्ध सामायिक करना चाहता है, उसको अपना खान-पान और रहन-सहन भी शुद्ध रखना चाहिए और जब सामायिक में मन न लगे, अपने खान-पान और रहन-सहन की आलोचना करके अशुद्धि मिटानी चाहिए। जिस व्यक्ति का आहार-विहार शुद्ध है, तो चित्त स्थिर अवश्य रहेगा लेकिन यदि शुद्ध नही है, तो उस दशा मे सामायिक मे चित्त स्थिर कैसे रह सकता है?

सामायिक मे बैठे हुए व्यक्ति के प्रति समभाव रखना चाहिए, चाहे किसी के द्वारा अपनी कैसी ही हानि क्यो न हुई हो? या क्यो न हो रही हो? सामायिक में बैठा हुआ श्रावक इस पचम आरे में भी किस प्रकार समभाव रखता है तथा भौतिक पदार्थ की हानि से अपना चित्त अस्थिर नही होने देता है, यह बताने के लिए एक घटना का वर्णन किया जाता है जो सुनी हुई है।

दिल्ली मे एक जौहरी श्रावक सामायिक करने के लिए बैठा। सामायिक मे बैठते समय उसने अपने गले मे पहना हुआ मूल्यवान कण्ठा उतार कर अपने कपडो के साथ रख दिया था। वहा पर एक दूसरा श्रावक भी उपस्थित था। उस दूसरे श्रावक ने जौहरी श्रावक को कण्ठा निकाल कर रखते देखा था। जब वह जौहरी श्रावक सामायिक मे था तब उस दूसरे श्रावक ने जौहरी के कपडो मे से वह कण्ठा निकाला और जौहरी को कण्ठा बताकर उससे कहा—मैं यह कण्ठा ले जाता हू। यह कहकर वह दूसरा श्रावक

ले जाने के लिए कुछ लाई नही, फिर आग किसमे ले जाऊगी। मै आग लाने के लिए कडा ले जाना भूल गई थी। पडोसिन के द्वार पर कुछ कडे पडे हुए थे। मैंने सहज भाव से उन कडो मे से एक कडा उठा लिया और पडोसिन के यहा के उस कडे को भी मैने भोजन बनाते समय चूल्हे मे जला दिया। पडोसिन के घर से मै बिना पूछे जो कडा लाई थी वह कडा चोरी या बे–हक का था। इसलिए हो सकता है कि मेरे इस कार्य के कारण ही आपका चित्त सामायिक मे न लगा हो, क्योकि उस कडे को जलाकर बनाया गया भोजन आपने भी खाया था।

पत्नी का कथन सुनकर श्रावक ने कहा—बस ठीक है। उस कडे के कारण ही आज मेरा चित्त सामायिक मे नही लगा। क्योकि वह कडा अन्यायोपार्जित था। अन्यायोपार्जित वस्तु या उसके द्वारा बनाया गया भोजन जब पेट मे हो तब चित्त कैसे स्थिर रह सकता है ? अब तुम पडोसिन को एक के बदले दो कडे वापस करो, उससे क्षमा मागो और इस पाप का प्रायश्चित्त करो। श्राविका ने ऐसा ही किया। यह कथानक या घटना ऐसे ही घटी हो या रूपक मात्र हो। इसका मतलब तो यह है कि जो शुद्ध सामायिक करना चाहता है, उसको अपना खान–पान और रहन–सहन भी शुद्ध रखना चाहिए और जब सामायिक मे मन न लगे, अपने खान–पान और रहन–सहन की आलोचना करके अशुद्धि मिटानी चाहिए। जिस व्यक्ति का आहार–विहार शुद्ध है, तो चित्त स्थिर अवश्य रहेगा लेकिन यदि शुद्ध नही है, तो उस दशा मे सामायिक मे चित्त स्थिर कैसे रह सकता है?

फिर दिक् व्रत और उपभोग–परिभोग परिमाण व्रत, इन दोनो में रखी गई मर्यादा घटाने का विधान क्यो किया जाता है ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए वृत्तिकार कहते हैं:–

दिग्व्रत संक्षेपकरण गणुव्रताऽऽदि संक्षेपकरण स्याप्युप लक्षणं दृष्टव्यं तेषामपि संक्षेपस्यावश्यं कर्त्तव्य त्वात्।

अर्थात्–देशावकाशिक व्रत मे दिक् व्रत की मर्यादा का संक्षेप करना मुख्य है, लेकिन उपलक्षण से अन्य अणुव्रतों को भी अवश्य संक्षेप करना चाहिए, ऐसा वृद्ध पुरुष प्रतिपादन करते आये है।

इस कथन से स्पष्ट है कि जिस व्रत में जो मर्यादा रखी गई है, उन सभी मर्यादाओ को घटाना, आवश्यकता से अधिक रखी हुई मर्यादा को परिमित कर डालना ही देशावकाशिक व्रत है। उदाहरण के लिए चौथे अणुव्रत मे स्वदार–विषयक जो मर्यादा रखी गई है, उसको भी घटाना। इसी प्रकार पाचवे और सातवें व्रत मे रखी गई मर्यादा भी घटाना। इस प्रकार व्रत स्वीकार करते समय जो मर्यादा रखी गई है, उस मर्यादा को घटा डालना यही देशावकाशिक व्रत है।

अव यह बताया जाता है कि इस देशावकाशिक व्रत को स्वीकार करने का उद्देश्य क्या है ?

विवेकी श्रावक की सदा यह भावना रहा करती है कि :वे लोग धन्य हैं, जिन्होंने अनित्य, अशाश्वत एव अनेक दुःख के स्थान रूप गृहवास को त्याग कर सयम ले लिया है। मैं ऐसा करने के लिए अभी सशक्त नहीं हूं, इसी से गार्हस्थ्य जीवन बिता रहा हू। फिर भी मुझसे जितना हो सके, मै गृहवास मे रहता हुआ भी त्याग–मार्ग को अपनाऊ।' इस भावना के कारण श्रावक ने व्रत स्वीकार करते समय जो मर्यादा रखी है उस मर्यादा को भी वह घटाता है, जो अवकाश रखा है उसे भी सक्षिप्त करता है और इसी के लिए व्रत को स्वीकार करता है।

श्रावक के लिए प्रति दिन चौदह नियम चिन्तन करने की जो प्रथा है, वह प्रथा इस देशावकाशिक व्रत का ही रूप है। उन चौदह नियमों का जो प्रतिदिन विवेकपूर्वक चिन्तन करता है, उन नियमो के अनुसार मर्यादा करता है तथा मर्यादा का पालन करता है, वह सहज ही महा लाभ प्राप्त कर लेता है। ग्रन्थों मे वे नियम इस प्रकार कहे गये है.–

सचित दव्व विग्गई, पन्नी ताम्बुल वत्थ कुसुमेषु।
वाहण सयण विलेवण, बम्भ दिशि नाहण भतेषु।।

9 शयन—शय्या, पाट, पाटला, पलंग, बिस्तर आदि के विषय में मर्यादा करे।

10 विलेपन—शरीर पर लेपन किए जाने वाले द्रव्य जैसे—केसर, चन्दन, तेल, साबुन, अंजन—मंजन आदि के संबंध के प्रकार एवं भार की मर्यादा करे।

11 ब्रह्मचर्य—स्थूल ब्रह्मचर्य यानी स्वदार—सन्तोष, परदार—विवर्जन रूप व्रत स्वीकार करते समय जो मर्यादा रखी है, उसका भी यथाशक्ति संकोच करे, पुरुष पत्नी—संसर्ग के विषय में और स्त्री पति के संसर्ग के विषय में त्याग अथवा मर्यादा करे।

12 दिशि—दिक् परिमाण व्रत स्वीकार करते समय आवागमन के लिए मर्यादा में जो क्षेत्र जीवन भर के लिए रखा है, उस क्षेत्र का भी संकोच करे तथा यह मर्यादा करे कि आज मैं इतनी दूर से अधिक दूर ऊर्ध्व, अधः या तिर्यक् दिशा में गमनागमन न करूंगा।

13 स्नान—देश या सर्व स्नान के लिए भी मर्यादा करे कि आज इससे अधिक न करूंगा। शरीर के कुछ भाग को धोना देश स्नान है और सब भाग का धोना सर्व स्नान कहा जाता है।

14 भत्ते—भोजन, पानी के संबंध मे भी मर्यादा करे कि मैं आज इतने प्रमाण से अधिक न खाऊंगा, न पीऊंगा। ये चौदह नियम देशावकाशिक व्रत के ही अन्तर्गत हैं। इन नियमों से व्रत विषयक जो मर्यादा रखी गई है उसका संकोच होता है और श्रावकपना भी सुशोभित होता है।

कई लोग इन चौदह नियमों के साथ असि, मसि और कृषि इन तीन को और मिलाते हैं। ये तीनो कार्य आजीविका के लिये किये जाते हैं। आजीविका के लिए जो कार्य किये जाते हैं, उनमें से पन्द्रह कर्मादान का तो श्रावक को सर्वथा त्याग करना ही होता है। शेष जो कार्य रहते हैं, उनके विषय में भी प्रतिदिन मर्यादा करे।

1 असि—शस्त्र, औजारादि के द्वारा परिश्रम करके अपनी जीविका की जाय उसे 'असि' कर्म कहा जाता है।

2 मसि—कलम, दवात कागज के द्वारा लेख या गणित कला का उपयोग किया जाय, उसे 'मसि' कर्म कहा जाता है।

3 कृषि—खेती के द्वारा या उन पदार्थों का क्रय—विक्रय करके आजीविका की जाय उसको 'कृषि' कर्म कहा जाता है। उपरोक्त तीनों विषयों में श्रावकोचित कार्य की मर्यादा रख कर शेष का त्याग करे।

प्रतिज्ञा नही टूटती है। इस व्रत को एक करण तीन योग से भी स्वीकार किया जा सकता है। जो व्यक्ति एक करण तीन योग से यह व्रत स्वीकार करता है और आस्रव द्वारों के सेवन का त्याग करता है, वह स्वयं तो आरम्भ, समारम्भ के कार्य नहीं कर सकता, लेकिन दूसरे से कह कर आरम्भ, समारम्भ के काम कराता है, तो ऐसा करने से उसका त्याग भंग नही होता। क्योंकि उसने दूसरे के द्वारा आरम्भ, समारम्भ कराने का त्याग नहीं किया है।

इसी तरह इस व्रत को स्वीकार करने के लिए जो प्रत्याख्यान किए जाते है, वे एक करण और एक योग से भी हो सकते हैं। ऐसे प्रत्याख्यान करने वाला व्यक्ति, केवल शरीर से ही आरम्भ–समारम्भ के कार्य नहीं कर सकता। मन और वचन के संबंध में तो उसने त्याग ही नहीं किया है न कराने या अनुमोदन का ही त्याग किया है।

कई लोगों को यह भी पता नही होता कि हमने किस प्रकार के त्याग द्वारा दया या छः काया व्रत स्वीकार किया है। ऐसे लोग व्रत के लिए किए जाने वाले प्रत्याख्यान के भेदों को नही जानते और ऐसे लोगो को त्याग कराने वाले नीची श्रेणी का ही त्याग कराते है। ये त्याग बहुत ही अल्प हैं, इनमे आश्रवो को बहुत कम अंश मे त्यागा जाता है और अधिकाश प्रत्याख्यान नही होते।

ऐसा होते हुए भी, ऐसे लोगो की वृत्ति की तुलना मुनियो की वृति से की जाती है, तो असगत है। यदि इस संबंध में विवेक से काम लिया जावे, तो किसी को इस व्रत के विषय मे कोई आक्षेप करने का अवसर न मिले।

दया व्रत भी एक प्रकार का पौषध व्रत ही है। पौषध उसे कहते हैं जिसके द्वारा धर्म का पोषण किया जावे। पौषध की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि–

पोसं –पुष्टि प्रकमाद धर्मस्य धत्ते करोतीति पौषधः।

अथवा

पोसेइ कुसल धम्मे, जंता हारादि चागऽणुट्ठाणं।
इह पोसहोति भण्णति, विहिणा जिणभासिएणे य।।

अर्थात्–प्राणातिपात विरमण आदि के शुभ आचरणो द्वारा धर्म को पोषण देना पौषध है।

पूर्वकाल मे इस तरह के पौषध होने का प्रमाण श्री भगवती सूत्र के 12 वे शतक के प्रथम उद्देशक मे शखजी और पोखलीजी श्रावक के अधिकार मे पाया जाता है, जिन्होंने आहार करके पक्खी पौषध किया था। इस

इस विधि से भोजन करे और वह भी परिमित। इसके लिए कहा है कि **'जावा मायाए भुच्चा।'** यानि जिससे और जितने आहार से जीवन–यात्रा निभ सके, क्षुधा मिट जावे, आलस्य न हो, प्रकृति सात्त्विक और शरीर स्वस्थ रहे वैसा और उतना ही परिमित आहार करे।

आहार करके प्रासुक जल से तृषा मिटावे और हाथ, मुंह स्वच्छ करे। फिर नमस्कार मंत्र का उच्चारण करके उठे, तथा तिविहार या चौविहार का प्रत्याख्यान करके जिस स्थान पर पौषध किया है, उसी स्थान पर उपस्थित होकर सामायिकादि धर्मकार्य में लग जावे।

आहार करने पर निहार भी करना अनिवार्य होता है। इसलिए पौषध में निहार–उच्चार–प्रस्रवण आदि परठने की आवश्यकता हो, तब 'आवस्सही आवस्सही' कह कर साधु की तरह ईर्या शोधता हुआ और यदि रात हो तो पूजता हुआ स्थंडिल भूमि पर जावे। वहां भूमि का परिमार्जन या प्रतिलेखन करके, शक्रेन्द्र महाराज की आज्ञा मांग कर परठे। परठने के पश्चात् प्रासुक जलादि से शुद्धि करके तीन बार 'वोसिरे वोसिरे' कहे और फिर अपने स्थान पर आकर 'निस्सही निस्सही' कह कर तथा ईर्या पथिक का कायोत्सर्ग कर ज्ञान, ध्यान में तल्लीन हो जावे।

पौषध के दिन दिन के पिछले प्रहर मे पहनने तथा ओढने, बिछाने के वस्त्र और मुखवस्त्रिका रजोहरण आदि का प्रतिलेखन करके, रात मे शयन करने के लिए संथारा जमा ले। दिवस की समाप्ति पर देवसी प्रतिक्रमण करके परमात्मा का गुणानुवाद तथा स्वाध्याय, ज्ञान, ध्यान आदि करे। जब एक प्रहर रात व्यतीत हो जावे, उसके बाद परमात्मा का स्मरण करता हुआ रजोहरण से अपना शरीर एव संथारे का ऊपरी भाग पूंजे और निद्रा का प्रमाद मिटा ले। फिर रात के पिछले प्रहर मे जागृत होकर निद्रा लेने के समय देखे गए कुस्वप्न और दु:स्वप्न के लिए कायोत्सर्ग करके, स्वाध्याय या परमात्मा के भजन मे मग्न हो जावे। लेकिन उस समय इस तरह न बोले, जिससे दूसरे की निद्रा भंग हो जावे। फिर समय होने पर रायसी प्रतिक्रमण करके सूर्योदय हो जाने पर ओढने, बिछाने तथा पहनने के वस्त्र एव मुखवस्त्रिका, रजोहरण आदि का प्रतिलेखन करके यह जाने कि सोते समय मेरी असावधानी से किसी जीव की विराधना तो नहीं हुई है। पश्चात् पौषध (दया या छ. काया) प्रत्याख्यान पारे।

के पौषध को पूरी तरह अपनाया जावे। जो इस तरह नही किया जाता है, किन्तु सामान्य रूप में किया जाता है, उसकी गणना दशवे व्रत के पौषध यानि देशावकाशिक व्रत में है। इसके अनुसार तप करके पानी का उपयोग करने अथवा शरीर में लगाने, मलने रूप तेल का उपयोग करने पर भी उपवास मे दशवे व्रत का ही पौषध हो सकता है, ग्यारहवे व्रत का पौषध नही हो सकता।

तात्पर्य यह है कि इस प्रकार पौषध के अनेक भेद हैं। जिसमे चारो आहार का त्याग और चारों प्रकार के पौषध का पालन किया जाता है, वह ग्यारहवे व्रत का पौषध है। शेष पौषध दशवें व्रत के पौषध मे ही है। दशवें व्रत का पौषध तपपूर्वक भी किया जा सकता है और आहार करके भी। इसलिए यदि श्रावक चाहे और विवेक से काम ले तो वह प्रत्येक समय दशवां व्रत निपजा सकता है।

उसके पास आ जावें या कार्य कर सकें, यह शब्दानुपात नाम का अतिचार है।

4 रूपानुपात – मर्यादा में रखी हुई भूमि के बाहर का कोई कार्य उत्पन्न होने पर इस तरह की शारीरिक चेष्टा करना कि जिससे दूसरा व्यक्ति आशय समझ जावे, यानि शारीरिक चेष्टा द्वारा संकेत करना रूपानुपात नाम का अतिचार है।

5 बाह्यपुद्गलप्रक्षेप – मर्यादित भूमि के बाहर का कार्य उपस्थित होने पर ढेला, ककर आदि चीजें मर्यादित भूमि के बाहर फेंक कर दूसरे को संकेत करना बाह्यपुद्गलप्रक्षेप नाम का अतिचार है।

ऊपर बताये गये अतिचारों में से प्रारम्भ के दो अतिचार अतिचार की कोटि में तभी तक हैं, जब तक अतिचार में बताए गए कार्य बिना उपयोग से यानी भूल से किये जावे। इस पर यह प्रश्न होता है कि जब प्रारम्भ के दोनो अतिचारों में बताये गये कार्यो को करने वाला व्यक्ति व्रत की अपेक्षा रखता है और इसीलिए वह स्वयं न जाकर दूसरे को भेज रहा है, तब उसका कार्य भूल से हुआ कैसे कहा जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह दशवा व्रत दो करण तीन योग से भी होता है। इसलिए ऐसा व्रत स्वीकार करने वाला व्यक्ति मर्यादित भूमि के बाहर न तो स्वयं ही जा सकता है, न किसी को भेज ही सकता है। ऐसा होते हुए भी अपने लिए मर्यादित भूमि से बाहर न जाने का ध्यान तो रखना, लेकिन दूसरे को न भेजने का ध्यान न रखना और भेज देना, अतिचार है। यदि दूसरे को न भेजने के नियम का ध्यान होने पर भी इस नियम की उपेक्षा करके दूसरे को मर्यादित भूमि से बाहर भेजा जावे तब तो अनाचार ही है। शेष तीन अतिचार व्रत की अपेक्षा रखते हुए भी माया कपट से किए जाते है, परन्तु व्रत की अपेक्षा रखी जाती है इस लिए अतिचार ही है, लेकिन प्रबल अतिचार हैं।

इन अतिचारों को समझ कर व्रतधारी को इनसे बचते रहना चाहिए। इन अतिचारों से बचे रहने पर ही व्रत का पूरी तरह पालन होता है।

भावना करना, श्रावक के लिए उसी प्रकार का विश्राम–स्थल है जिस प्रकार का विश्राम–स्थल भारवाहक के लिए कन्धा बदलना होता है।

(2) सावद्य योग के त्याग और निरवद्य योग का स्वीकार रूप सामायिक लेकर चित्त को समाधि भाव में प्रवर्त्ताना, यह दूसरा विश्राम–स्थल है। अथवा देशावकाशिक व्रत स्वीकार करके अपने ऊपर से भार को कुछ समय के लिए कम करना, यह भी गृहस्थ श्रावक के लिए दूसरा विश्राम–स्थल है।

(3) अष्टमी चतुर्दशी, पक्खी आदि पर्व के दिन, रात्रि–दिवस के लिए पौषधोपवास करना तीसरा विश्राम–स्थल है।

(4) अन्त समय मे समस्त सांसारिक कार्यो से निवृत होकर संलेखणा, सथारा आदि करके शेष जीवन को समाधि प्राप्त करने में लगा देना, यह चौथा विश्राम–स्थल है।

इन चारो प्रकार के विश्राम–स्थल में से पौषधोपवास गृहस्थ श्रावक के लिए उसी प्रकार का तीसरा विश्राम–स्थल है, जैसा तीसरा विश्राम–स्थल भारवाहक के लिए रात्रि–निवास रूप बताया गया है। पौषधोपवास की व्याख्या करने के लिए शास्त्रकार लिखते हैं–

पौषधे उप वसनं पौषधोपवासः, नियम–विशेषाभिधानं चेदं पौषधोपवासः।

अर्थात्–धर्म को पुष्ट करने वाले नियम–विशेष धारण करके उपवास सहित पौषधशाला में रहना पौषधोपवास व्रत है।

शास्त्रकारो ने पौषधोपवास के चार भेद कहे हैं। वे इस प्रकार हैं–

पोसहोववासे चउव्विहे पन्नत्ते, तंजहा–आहार पोसहे,
सरीर पोसहे, बंभचेर पोसहे, अव्वावाहार पोसहे।

अर्थात्–पौषधोपवास चार प्रकार का होता है। आहार पौषध, शरीर पौषध, ब्रह्मचर्य पौषध और अव्यापार पौषध। इनका स्वरूप इस प्रकार है–

1 आहार पौषध–आहार का त्याग करके धर्म को पोषण देना, आहार पौषध है।

धारण करने में जितनी भी देरी हो जावे उतना ही समय दूसरे दिन सूर्योदय हो जाने के बाद पौषधवृत्ति में कायम रहे, उसे ही प्रतिपूर्ण पौषध माना जाता है। सम्पूर्ण आठ प्रहर से कम पौषध को प्रतिपूर्ण पौषध में नहीं लिया जाता है।

यदि कोई सम्पूर्ण आठ प्रहर का स–सामायिक पौषध व्रत नहीं करके कम समय के लिए पौषध करना चाहे तो वह प्रतिपूर्ण पौषध तो नहीं कहा जाता, और शास्त्रीय विधि से तो ऐसा नहीं होता किन्तु ग्यारहवें व्रत में शुमार किये जाने योग्य पौषध कर सकता है। ऐसा व्यवहार है।

सर्व सावद्य योग के त्यागपूर्वक पौषधोपवास व्रत करने वाले का क्या कर्त्तव्य होता है? यह बताने के लिए सुखविपाक सूत्र में सुबाहुकुमार के वर्णन में कहा गया है कि–

तए णं से सुबाहुकुमारे अन्नया कयाइ चाउ दस्सट्ठ गुदिट्ठ पुण्ण गासिणीषु जेणेव पोसहसालं तेणेवं उवागच्छई उवागच्छित्ता पोसहसालं–पगज्जइ, पमज्जित्ता उच्चार पासवणं भूमि पडिलेहेइ, पडिलेहित्ता दब्भ संथारं संथरेइ, संथरित्ता दब्भ संथारं दुरूहइ, दुरूहित्ता अट्ठ गभत्तं पग्गिण्हइ, पग्गिणहित्ता पोसहसालाए पोसहिए अट्ठ गभत्तं पोसहं पडिजागरमाणे विहरइ।

अर्थात्–वह सुबाहुकुमार (श्रमणोपासक) किसी समय चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या या पूर्णिमा आदि पर्व दिन में जहां पर अपनी पौषधशाला थी वहां आया। उसने सबसे पहले पौषधशाला को स्वच्छ किया और परिमार्जन करके यह देखा कि कहीं ऐसे जीव तो नहीं हैं, जिनके कारण मेरे पौषध व्रत में कोई बाधा पहुंचे तथा असावधानी में मेरे से उन जीवों की विराधना हो जावे। फिर उसने ऐसी भूमि का निरीक्षण और परिमार्जन किया, जिसे परठने की भूमि अथवा स्थण्डिल भूमि कहते है और शारीरिक धर्म के कारण मल–मूत्र त्याग कर जहां परठा जा सके। फिर पौषधशाला में दर्भादिक (घास) का सथारा (बिछौना) किया। उस संथारे पर बैठकर उसने अष्टम भक्त यानि तीन दिन के उपवास (तेला) की तपस्या स्वीकार की और वह चारों प्रकार के पौषध सहित समाधि भाव में आत्मा को स्थिर करके विचरने लगा।

सुबाहुकुमार राजपुत्र था। वह पांच सौ रानियों का पति था, उसके यहां प्रचुर संख्या में दास–दासी थे। यह सब होते हुए भी वह श्रावक था। सुबाहुकुमार केवल नाम का ही श्रावक न था, किन्तु जीव, अजीव के स्वरूप और पुण्य, पाप के फल का जानकार था। इस जानकारी के कारण न तो उसे

श्रावक को देव ने जगाया, ऐसा वर्णन कहीं भी नहीं पाया जाता। इसलिए पौषध व्रत–धारी श्रावक को रात के समय अधिक से अधिक धर्म–जागरण करना चाहिए। पंचम गुण स्थान पर स्थित लोगों को शुक्ल ध्यान तो होता ही नही है। आर्त्त, रौद्र और धर्म ये तीन ही ध्यान हो सकते हैं। इनमें से पौषध व्रत–धारी के लिए आर्त्त–ध्यान और रौद्र ध्यान तो सर्वथा त्याज्य ही है। उसके लिए तो धर्म–ध्यान ही शेष रहता है, जो प्रशस्त भी है। इसलिए पौषध व्रत–धारी श्रावक को पौषध व्रत का समय धर्म–ध्यान में ही लगाना चाहिए।

शास्त्रकारों ने धर्म–ध्यान के आज्ञा–विचय, अपाय–विचय, विपाक–विचय और संस्थान–विचय ये चार भेद बताये हैं। इन चारो भेदों का स्वरूप इस प्रकार है–

1 **आज्ञा–विचय**–जैन सिद्धांत में वस्तु–स्वरूप का जो वर्णन है, सर्वज्ञ वीतराग भगवान् की आज्ञा को प्रधानता देकर उस वस्तु–स्वरूप का चिंतन करना, आज्ञा–विचय नाम का धर्म–ध्यान है। यह आज्ञा दो प्रकार की है। एक तो आगम आज्ञा और दूसरी हेतुवाद–आज्ञा। आगम–आज्ञा वह है, जो आप्त वचन द्वारा प्रतिपादित होने पर ही प्रमाण मानी जावे और हेतुवाद आज्ञा वह है, जो अन्य प्रमाणो से भी प्रतिपादित हो।

2 **अपाय–विचय**–आत्मा का अहित करने वाले कर्मो का नाश किस तरह हो, इस विषयक विचार करते हुए यह सोचना कि अज्ञान एवं प्रमाद के वश होकर इन कर्मो का संचय मैंने ही किया है। अव श्री देव गुरु की कृपा से मेरे आत्मा में जिनेश्वर भगवान् के वचनों का प्रकाश हुआ है, इसलिए आत्मा को ऐसे कर्म से बचाऊं जिससे मुझे फिर इस दुःख रूपी अपाय का अनुभव न करना पडे। इस तरह का विचार करना, अपाय–विचय नाम का धर्म–ध्यान है।

3 **विपाक–विचय**–किये हुए कर्म का फल (विपाक) दो तरह से अनुभव मे आता हैं। शुभ कर्म के उदय से आत्मा को इष्ट पदार्थो का संयोग होता हैं तथा सुख मिलता है। और अशुभ कर्म के उदय से अनिष्ट पदार्थो का संयोग तथा दुःख मिलता है। इस प्रकार कर्म के विपाक के संबंध में विचार करते हुए यह मानना कि जो शुभाशुभ विपाक मिलता है वह मेरे किये हुए शुभाशुभ कर्म का ही परिणाम है। ऐसा विचारना, मानना, विपाक–विचय नाम का तीसरा–धर्म ध्यान है।

धर्म–ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं भी हैं–एकानुप्रेक्षा, अनित्यानुप्रेक्षा, अशरणानुप्रेक्षा और संसारानुप्रेक्षा। हृदय में उत्पन्न विचार धारा अर्थात् भावना को अनुप्रेक्षा कहते हैं । इन चारों अनुप्रेक्षाओं का स्वरूप भी संक्षेप में बताया जाता है–

1 **एकानुप्रेक्षा**– आत्मा को समस्त सांसारिक संयोगों से भिन्न तथा अकेला मान कर तत्सम्बन्धी भावना करना, एकानुप्रेक्षा है।

2 **अनित्यानुप्रेक्षा**–समस्त सांसारिक एवं पौद्गलिक संयोगों को अनित्य (सदा न रहने वाले) मान कर तत्संबंधी भावना करना, अनित्यानुप्रेक्षा है।

3 **अशरणानुप्रेक्षा**–समस्त सांसारिक संबंधों के लिए यह मानना कि ये मेरे लिए शरणदाता नहीं हो सकते और ऐसा मान कर तत्संबंधी भावना करना, अशरणानुप्रेक्षा है।

4 **संसारानुप्रेक्षा**–संसार के जन्म–मरण के क्रम एवं आवागमन संबधी विचार करके किसी से स्नेह न रखने की भावना करना संसारानुप्रेक्षा है।

पौषध व्रत–धारी श्रावक को अपना समय धर्मध्यान में ही बिताना चाहिए। साथ ही उन दोषों से बचते रहना चाहिए जिनसे पौषध व्रत दूषित होता है। ऐसे दोषों से बचने के लिए उन दोषों की जानकारी होना आवश्यक है। उनमें से कुछ तो ऐसे हैं, जो पौषध व्रत स्वीकार करने से पहले दिन करने पर भी व्रत दूषित होता है और कुछ ऐसे हैं जो पौषधव्रत स्वीकार करने पर किये जाने से व्रत दूषित होता है।

पौषध के निमित्त से 1. सरस आहार करना, 2. मैथुन करना 3. केश, नख कटाना, 4. वस्त्र धुलाना, 5. शरीर मण्डन करना, और 6. सरलता से न खुल सकने वाले आभूषण पहनना, ये छः दोष पौषध करने से पूर्व के हैं। इनके सिवाय बारह दोष वे हैं, जो पौषध व्रत स्वीकार करने के पश्चात् आचरण में आने पर व्रत दूषित होता है। वे बारह दोष इस प्रकार हैं–

जो व्रत–धारी नही है, उसकी 7. व्यावच (सेवा) करना अथवा उससे व्यावच कराना या ऐसे व्यक्ति को आदर देना, 8. शरीर मे पसीना होने पर शरीर को मल कर मैल उतारना, 9 दिन मे नीद लेना, रात मे एक पहर रात

अनुकूल परिषह लुभावने होते हैं अतएव उनको जीतना भी अधिक कठिन होता है तथापि परिषह की ही तरह अनुकूल परिषह होने पर भी पौषध व्रत–धारी श्रावक को दृढ़ रहना चाहिए। कैसा भी अनुकूल परपिह हो, विचलित न होना चाहिए। भगवान् शान्तिनाथ के पूर्व भवों के वर्णन में एक जगह कहा गया है कि एक समय महाराजा मेघरथ पौषध व्रत में बैठे हुए थे। उसी समय ईशान–कल्प (स्वर्ग) मे ईशानेन्द्र महाराज ने अपनी इन्द्रानियों को सभा में, प्रसगवश, राजा मेघरथ की प्रशंसा करते हुए कहा–पौषध व्रत में बैठे हुए महाराजा मेघरथ को धार्मिक वृत्ति से विचलित करने मे कोई भी समर्थ नहीं है। यही महाराज भविष्य में जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में शान्तिनाथ के नाम से पंचम चक्रवर्ती और सोहलवें तीर्थकर होंगे।

इन्द्र द्वारा की गई महाराजा मेघरथ की प्रशंसा सुनकर अन्य इन्द्रानियां तो प्रसन्न हुई, लेकिन सुरूपा और अतिरूपा नाम की इन्द्रानियों ने महाराजा मेघरथ की धर्म–दृढ़ता की परीक्षा लेने का विचार किया। वे दोनों अप्सराएं मर्त्यलोक में वहां आई, जहां महाराजा मेघरथ पौषधशाला में पौषधव्रत धारण करके ध्यानस्थ थे। उन अप्सराओं ने स्त्रियोचित हाव–भाव एवं कामोद्दीपक राग रंगों द्वारा महाराजा मेघरथ को विचलित करने का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु महाराजा मेघरथ अविचलित ही रहे और क्षुब्ध न हुए। जब रात समाप्त हो चली और प्रातःकाल होने लगा, तब वे अप्सराएं हार मान कर अपनी लीला समेट महाराजा मेघरथ को नमन करके तथा अपने अपराध के लिए क्षमा मांग कर अपने स्थान को गईं।

मतलब यह है कि पौषध व्रतधारी श्रावक को अनुकूल परिषह होने पर भी दृढ ही रहना चाहिए, विचलित न होना चाहिए। चाहे अनुकूल परिषह हो या प्रतिकूल परिषह हो, धैर्यपूर्वक उन्हें सह कर अविचलित रहने और उनके प्रतिकार की भावना न करने पर ही पौषध व्रत अभंग रहता है। यदि परिषह के कारण विचलित हो उठा, परिषह के प्रतीकार अथवा परिषह देने वाले को दण्ड देने का प्रयत्न किया या ऐसी भावना की, तो उस दशा में पौषध व्रत भंग हो जावेगा। परिषह देने वाले को दण्ड देने की बात तो दूर रही, उसके प्रति कठिन शब्द का प्रयोग करने पर भी व्रत दूषित हो जाता है।

महाशतक श्रावक जब गृहकार्य त्याग कर प्रतिमा वहन कर रहे थे

पौषधोपवास व्रत के अतिचार

ग्यारहवें पौषधोपवास का उद्देश्य प्रमादावस्था से आत्मा को निकाल कर अप्रमत्तावस्था में स्थित होना है। इसलिए इस व्रत में प्रमाद को किंचित् भी स्थान नहीं है। थोड़ा भी प्रमाद करने पर पौषधोपवास व्रत दूषित हो जाता है। पौषधोपवास व्रत किस–किस तरह के प्रमाद से दूषित होता है, यह बताने के लिए भगवान् ने पौषधोपवास व्रत के पांच अतिचार बताये हैं जो इस प्रकार हैं–

1 अप्रतिलेखित–दुष्प्रतिलेखित शय्या संथारा–पौषध के समय काम में लिये जाने वाले पाट, पाटला, बिछौना, संथारा आदि का प्रतिलेखन न करना, अथवा विधि–पूर्वक प्रतिलेखन न करना, यानि मन लगा कर प्रतिलेखन की विधि से, प्रतिलेखन न करना और इस प्रकार के शय्या–सथारा को काम में लेना, अप्रतिलेखित दुष्प्रतिलेखित शय्या संथारा नाम का अतिचार है।

प्रतिलेखन प्रातःकाल भी होना चाहिए और सायंकाल भी। रात के समय अन्धेरे मे छोटे जीव नही दिख सकते। इसलिए सायंकाल को ही प्रतिलेखन कर लिया जाता है, जिससे बिछौने आदि में कोई जीव न रह जाय और उसकी विराधना न हो जाय। रात्रि समाप्त होने के पश्चात् प्रातःकाल बिछौना आदि का प्रतिलेखन यह देखने के लिए किया जाता है कि रात के समय मेरे द्वारा किसी जीव की विराधना तो नही हुई है। यदि हुई हो तो उसका प्रायश्चित किया जावे।

2 अप्रमार्जित–दुष्प्रमार्जित शय्या संथारा– पाट–पाटला, बिस्तर

अतिथि–संविभाग व्रत

श्रावक के बारह व्रतों में से बारहवां और चार शिक्षा व्रतों में से चौथा व्रत अतिथि–संविभाग है। श्रावक का जीवन कैसा धार्मिक हुआ है ? श्रावक होने के पश्चात् जीवन में क्या विशेषता आई है ? और पांच अणुव्रतो तथा तीन गुणव्रतों के पालन का प्रभाव उसके जीवन पर कैसा पड़ा है? आदि बातो को जानने का साधन श्रावक के चार शिक्षा व्रत हैं। चार शिक्षा व्रत मे से प्रथम के तीन शिक्षा व्रतों का लाभ तो श्रावक को ही मिलता है, लेकिन चौथे अतिथि–संविभाग व्रत का लाभ दूसरे को भी मिलता है। इस व्रत का पालन करने से बाह्य जगत् को यह ज्ञान होता है कि जैन दर्शन कैसा विशाल है और जैन धर्म पालन करने वाले में विश्वबन्धुत्व की भावना कैसी प्रौढ रहती है ?

अतिथि–संविभाग का अर्थ है, अतिथि के लिए विभाग करना। जिसके आने का कोई दिन या समय नियत नहीं है, जो बिना सूचना दिये अनायास आ जाता है, उसे अतिथि कहते हैं। ऐसे अतिथि का सत्कार करने के लिए भोजनादि पदार्थों में विभाग करना अतिथि–संविभाग है? और ऐसा करने की प्रतिज्ञा करने का नाम अतिथि–संविभाग व्रत है। सूत्रों में इस व्रत को 'अहाराविभाग व्रत' कहा है, जिसकी व्याख्या करते हुए टीकाकार लिखते हैं कि–

यथा सिद्धस्य–स्वार्थं निर्वर्तितस्येत्यर्थः, अशनादिः समिति संग तत्वेन पश्चात्कर्मादि दोष परिहारेण विभजनं, साधवे दानद्वारेण विभाग करणं यथा सविभागः।

अर्थात् – गृहस्थ द्वारा अपने लिए बने हुए आहारादि में से, जो साधु एषणा समिति सहित पश्चात् कर्म आदि दोषो का परिहार करके अशनादि ग्रहण करते है, उनको दान देने के लिए विभाग करना अतिथि–सविभाग व्रत है।

कोई श्रावक अपने खाने–पीने में सचित्त तथा अप्रासुक पदार्थ ही काम मे लेता है, रगीन बहुत महीन अथवा चमकीले वस्त्रों का उपयोग करता है, अथवा कुर्सी, पलग, टेबल आदि ऐसी ही चीजें घर में रखता है, जो साधु–मुनिराज के काम में नहीं आ सकतीं, तो वह श्रावक–मुनिराजों को अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, पाट आदि चीजों से प्रतिलाभित कैसे कर सकता है? श्रावक का दूसरा नाम श्रमणोपासक यानि साधु का उपासक (सेवा करने वाला) है। मुनि–महात्मा श्रावकों से शरीर संबंधी सेवा तो लेते नहीं। इसलिए श्रावक मुनिराजों की सेवा उन चीजों से मुनिराजों को प्रतिलाभित करने के रूप में ही कर सकता है। जो चीजें मुनि–महात्मा के संयमी जीवन में सहायक हो सकती हैं और वे भी मुनि–महात्मा के लिए बनाई हुई न हो, किन्तु अपने या अपने कुटुम्बियों के लिए बनाई अथवा खरीदी हुई हों। ऐसी दशा में जब श्रावक मुनि–महात्मा के काम में आने वाली चीजों का उपयोग ही न करता होगा, तब वह मुनि–महात्माओं को ऐसी चीजों से प्रतिलाभित कैसे कर सकेगा? साधु–मुनिराजों को प्रतिलाभित करने का लाभ वही व्यक्ति ले सकता है जिसके पास ऐसी चीजें हों।

आज गृहस्थों की मनोवृत्ति कुछ ऐसी संकुचित हो रही है कि वे जितने कपड़े सिलवाने होते हैं, उतने ही के लिए बाजार से कपड़ा खरीद लाते हैं। उनके घर में बिना सिला हुआ कपड़ा मिलना कठिन होता है। इसके लिए आर्थिक दुरवस्था का बहाना भी असंगत है। क्योंकि आर्थिक दुरवस्था का बहाना तो तब ठीक हो सकता है, जब सिले हुए कपडे आवश्यकता से अधिक न हों। लेकिन होता यह है कि लोग इतने अधिक सिले हुए कपडे भरे रखते हैं कि जो वर्षो तक रखे रहते हैं, और जिन्हें पहनने का क्रम ही नहीं आता है। इसलिए बिना सिला हुआ कपडा न रहने का कारण आर्थिक दुरवस्था नही हो सकता, किन्तु अविवेक ही हो सकता है। जिसमें इस प्रकार का अविवेक है वह मुनिराजो को प्रतिलाभित कैसे कर सकता है ? यदि श्रावकों मे इस विषयक विवेक हो तो मुनिराजो को ऐसी दुकानों पर वस्तु याचने के लिए क्यो जाना पडे जहां सचित द्रव्य के संघट की सम्भावना रहती है और दूसरे दोषों की भी सम्भावना रहती है।

जैन शास्त्रो मे धर्म के चार अंग प्रधान कहे गये हैं। जिनमें से दान–धर्म, धर्म की पहली सीढी है। दान के भेदो मे भी अभयदान और सुपात्र–दान को ही श्रेष्ठ कहा गया है। सुपात्र–दान वह है जिसका [illegible] भी पात्र हो, दाता

स्वीकार करने के पश्चात् मनुष्य की भावना भी बदल जाती है और कार्य भी बदल जाते हैं। उसकी भावना विशाल हो जाती है। ऐसा होने पर ही श्रावक अपने लिए लगाये गये 'द्विजन्मा' विशेषण को सार्थक कर सकता है। लेकिन यदि श्रावक होने पर भी सांसारिक पदार्थो के प्रति ममत्व बढा हुआ ही रहा, दीन–दुःखियों को सुखी बनाने की भावना न आई तो उस दशा में यह कैसे कहा जा सकता है कि उसका 'द्विजन्मा' विशेषण सार्थक है ?

आज के बहुत से श्रावक दूसरे का हित करने और दूसरे का दुःख मिटाने के समय आरम्भ, समारम्भ की दुहाई देने लगते हैं, और आरम्भ, समारम्भ से बचने के नाम पर कृपणता एवं अनुदारता का व्यवहार करते हैं। लेकिन ऐसा करना बडी भूल है। अपने भोग–विलास एवं सुख–सुविधा के समय तो आरम्भ, समारम्भ की उपेक्षा करना और दीनों का दुःख मिटाने के समय आरम्भ, समारम्भ की आड़ लेना कैसे उचित हो सकता है ? श्री भगवती सूत्र के दूसरे शतक के पांचवे उद्देश्य में तुंगिया नगरी के श्रावक की ऋद्धि का इस प्रकार वर्णन है:–

अड्ढा, दित्ता, विच्छिण्ण विपुल भवण सयणासण– जाणवाहणा इण्णा, बहुधण बहुजाय रूव रयसा आओगप्पा योग सम्पउत्ता, विच्छयि विपुल भत्तपाणा, बहुदासी दास गो महिसगवेलग। पभूआ, बहु जणस्स अपरिभूया अभिगय जीवाजीवा जाव उसिय फलिहा अभंग दुवारा।

इस पाठ से स्पष्ट है कि तुगिया नगरी के श्रावकों के यहां बहुत से दासी–दास एव पशुओं का पालन होता था, बहुत सा भात, पानी निपजता था और उनकी सहायता से बहुत लोगों की आजीविका चलती थी। इस कारण उनके यहा अधिक आरम्भ, समारम्भ का होना स्वाभाविक ही है। श्रावक होकर भी उनके यहा अधिक समारम्भ होता था, तो क्या वे आरम्भ–समारम्भ को नही समझते थे? क्या आरम्भ–समारम्भ को घटाने विषयक तत्व को वे नही मानते थे? वे इस तत्त्व को न जानते रहे हों, यह सम्भव नही। क्योंकि उक्त वर्णन मे आगे चल कर तुगिया नगरी के श्रावको के लिए कहा गया है कि वे आस्रव, संवर, निर्जरा, अधिकरण, बन्ध और मोक्ष, इन तत्वों में कुशल थे। ऐसा होते हुए भी, वे दूसरे लोगों का पालन करने के समय आरम्भ, समारम्भ की आड नही लेते थे। क्योंकि उनमे उदारता थी, दया थी। आज के लोग शास्त्र मे वर्णित बातों को पूरी तरह समझने के बदले, उनका [illegible] कर डालते हैं। शास्त्रकारों ने इस विषय को स्पष्ट करने के लिए

हैं। इसके विरुद्ध जिसका द्वार अतिथि के लिए वन्द रहता है, उसको ऐसा महान् शुभ संयोग किस प्रकार मिल सकता है?

एक राजा के हाथ में जहरी फोड़ा हो गया था। वैद्यों ने कहा कि यह फोड़ा प्राण-घातक है लेकिन यदि यह राजहंस की चोंच से फूट जावे, तो उस दशा में राजा के प्राण वच सकते हैं।

वैद्यो द्वारा वताये गये उपाय के विषय में यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि कैसे तो राजहंस आवे? और कैसे वह इस छाले को फोडे? इस प्रश्न को हल करने के लिए राजा ने एक मकान वनवाया जिसकी छत मे ऐसा छेद रखा कि राजा का हाथ तो नीचे रहे, लेकिन वह छाला छत के ऊपर निकला रहे। यह करके उसने छत पर पक्षियों के चुगने के लिए अन्न डलवाना प्रारम्भ किया। साथ ही, छाले के आस-पास हंसों के चुगने के लिए मोती भी डलवाने लगा। उस छत पर अन्न चुगने के लिए पक्षी आने लगे तथा पक्षियों को चुगते देखकर हंस भी आने लगे। होते-होते उन हंसों के साथ एक दिन राजहंस भी आ गया। राजहंस मोती चुगने लगा। मोती चुगते हुए राजहंस ने राजा के हाथ के छाले को मोती समझ कर उस पर भी चोंच मार दी, जिससे छाला फूट गया और राजा स्वस्थ हो गया।

यद्यपि उस राजा का उद्देश्य राजहंस को बुलाना था, लेकिन राजहंस तभी आया, जव दूसरे पक्षी आते थे। यदि राजा ने दूसरे पक्षियो के लिए चुगने का प्रवन्ध न किया होता, तो राजहंस कैसे आ सकता था ? इसी के अनुसार श्रावक का लक्ष्य तो है पंच महाव्रतधारी उत्कृष्ट पात्र को दान देना, लेकिन ऐसे महात्माओं को वह अतिथि रूप में अपने यहां तभी पा सकता है और तभी उन्हें दान दे सकता है, जब वह सामान्य अतिथि का सत्कार करता रहेगा और उन्हें दान देता रहेगा। ऐसा करते रहने पर, उसे कभी उन महात्माओं को दान देने का भी सुयोग मिल सकता है, जो दान के उत्कृष्ट पात्र हैं और जिन्हे दान देने पर महान् फल प्राप्त हो सकता है। इसलिए श्रावक का कर्त्तव्य है कि वह सभी अतिथियो का यथाशक्ति सत्कार करे। श्रावक के लिए शास्त्र मे यह विशेषण आया है कि उसका अभंग द्वार सदा खुला ही रहता है।

कोई कह सकता है कि 'श्रावक का वारहवां व्रत पंच महाव्रतधारी मुनिराजो को आहारादि देने से ही निपजता है, इसलिए शास्त्र में उन्ही को दान देने का विधान है। दूसरो को दान देने का विधान नही है, किन्तु निषेध पाया जाता है। उदाहरण के लिए उपासक दशाग सूत्र मे आनन्द

अतिथि–संविभाग व्रत के अतिचार

शास्त्रकारों ने इस बारहवें व्रत के पांच अतिचार बताये हैं, जिनसे बचना व्रतधारी श्रावक का कर्त्तव्य है। अतिचारों से बचे रहने पर ही श्रावक का व्रत निर्दोष रह सकता है और अतिचारों का सेवन करने पर व्रत दूषित हो जाता है। इस व्रत के पांच अतिचार इस प्रकार हैं:–

1 **सचित्तनिक्षेपण**–जो पदार्थ अचित्त होने के कारण मुनि–महात्माओं के लेने योग्य हैं, उन अचित्त पदार्थों के समीप सचित्त पदार्थ डाल देना, सचित्तनिक्षेपण नाम का पहला अतिचार है।

2 **सचित्तपरिधान**–अचित्त पदार्थ के ऊपर सचित्त पदार्थ ढॉक देना, सचित्त परिधान नाम का दूसरा अतिचार है।

3 **कालातिक्रम**–जिस वस्तु के देने का जो समय है वह समय टाल देना, कालातिक्रम नाम का तीसरा अतिचार है। उदाहरण के लिए किसी देश में अतिथि को आहार देने का समय दिन का दूसरा प्रहर है। इस समय को टाल देना, अतिथि को आहार देने के लिए उद्यत न होना, कालातिक्रम नाम का तीसरा अतिचार है।

4 **परोपदेश**–वस्तु देनी न पड़े, इस उद्देश्य से अपनी वस्तु को दूसरे की बताना, अथवा दिये गये दान के विषय मे यह सकल्प करना कि इस दान का फल मेरे पिता, माता, भाई आदि को मिले, परोपदेश या परोपद्देश्य नाम का चौथा अतिचार है।

5 **मात्सर्य**–दूसरे को दान देते देखकर उसकी प्रतिस्पर्धा करने की भावना रखकर दान देना, यानि यह बताने के लिए कि मै उससे कम नही हू किन्तु बढकर हू, दान देना मात्सर्य नाम का पाचवा अतिचार है।

ये अतिचार, बारहवे व्रत को दूषित करने वाले हैं। इसलिए इन अतिचारों से बचते रहना चाहिए। ये अतिचार जब तक अतिचार के रूप मे

षट् आवश्यक

एक कहता है—'अगर ज्ञान हमें प्राप्त हो गया है तो क्रिया की क्या आवश्यकता है?" दूसरा कहता है,—"क्रिया ही कल्याण कारिणी है। ज्ञान प्राप्त कर लेने से कोई लाभ नहीं है।"

लक्ष्य दोनों का एक है, फिर भी लक्ष्य की उपलब्धि के मार्गो में समन्वय न होने के कारण दोनों में से एक भी लक्ष्य पर नही पहुंच सकता। ज्ञान और क्रिया दोनों का समन्चय ही दोनों पैरों के समान लक्ष्य तक पहुचाने में सहायक होता है। जो ज्ञान क्रिया का निषेध करता है वह ज्ञान नहीं, अज्ञान है। जो क्रिया अज्ञानपूर्वक की जाती है वह संसार—भ्रमण का कारण होती है। दोनों का सम्यक् समन्वय परमार्थ—साधक है।

न केवल परमार्थ—साधन में ही, अपितु व्यवहार मे भी ज्ञान और क्रिया—दोनों की आवश्यकता होती है। कोई मनुष्य स्वतंत्रता प्राप्त करना चाहता है, पर केवल स्वतत्रता को जान लेने मात्र से वह प्राप्त नहीं हो सकती और न उसे जाने बिना प्रयत्न करने से। ज्ञान और क्रिया दोनों होने पर ही वह प्राप्त हो सकती है। कडकडाती भूख लगने पर भोजन के ज्ञान से ही भूख नही मिट सकती, और भोजन का स्वरूप समझे बिना भूख मिटेगी ही कैसे? इस प्रकार प्रत्येक व्यावहारिक सिद्धि के लिए ज्ञान और तदनुकूल क्रिया अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। शास्त्र मे कहा है—'पढमं नाणं तओ दया।' पहले ज्ञान की आवश्यकता है, फिर दया अर्थात् चारित्र या क्रिया सम्भव है। ज्ञानहीन क्रिया अन्धी है और क्रिया—हीन ज्ञान पंगु है।

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया।

मुख के द्वारा भोजन किया जाता है, यह तो सभी जानते है, पर भोजन पथ्य है या अपथ्य, यह जानना भी आवश्यक है। अपथ्य भोजन करने

1 सामायिक

प्रश्न–सामाइएणं भंते ! जीवे कि जणयइ ?

उत्तर–सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ।

अर्थात्

प्रश्न–हे भगवन् ! सामायिक से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर–सामायिक करने से सावद्य योग से निवृत्ति होती है।

यहां सक्षेप मे सामायिक का फल बतलाया गया है। अन्य ग्रन्थों मे इसका बहुत–कुछ विस्तार भी पाया जाता है। विशेषावश्यक भाष्य में सामायिक के विषय में बारह हजार श्लोक लिखे गये हैं।

सामायिक समस्त धर्म–क्रियाओं का आधार है। जैसे आकाश सभी के लिए आधारभूत है, चाहे कोई गृह बनाकर गृहाकाश कहे या मठ बनाकर मठाकाश कहे, मगर आकाश है सब के लिए आधारभूत, इसी प्रकार सामायिक भी समस्त धार्मिक गुणों का आधार है। दूसरे गुण सब आधेय हैं। आधार के बिना आधेय टिक नहीं सकता। इस नियम के अनुसार सामायिक के अभाव में अन्य गुण भी नहीं टिक नही सकते। जैसे पृथ्वी के आधार बिना कोई वस्तु नहीं टिक सकती और आकाश के आधार बिना पृथ्वी नही टिक सकती, इसी प्रकार सामायिक का आश्रय पाये बिना दूसरे गुण नहीं टिकते।

'सम' और 'आय' इन दो शब्दों के संयोग से 'सामायिक' शब्द बना है। अर्थात् समभाव का आना ही सामायिक है। अपनी आत्मा जिस दृष्टि से देखी जाती है उसी दृष्टि से दूसरों की आत्मा को देखना समभाव कहलाता है। इस प्रकार का समभाव एकदम नहीं आ सकता, लेकिन अभ्यास करते रहने से जीवन में समभाव का आना कठिन भी नहीं है।

कहा जा सकता है कि–'ऐसा समभाव लेकर बैठे तो पेट भी नही भर सकता और आखिर भूखे मर कर प्राण गवांने पड़ेंगे। संसार–व्यवहार चलाने के लिए छल–कपट करना आवश्यक है और जिसमें जितना बल और साहस हो, उसे उतना ही अधिक छल–कपट करना चाहिए। ऐसा न करके समभाव को छाती से चिपटा कर बैठे रहे तो जीवन कष्टमय बन जायेगा।'

इस कथन के उत्तर मे ज्ञानी जन कहते है–समभाव धारण करने से जीवन कष्टमय बनता ही नही है। विषमभाव से ही कष्टो की सृष्टि होती हैं। बहुत से लोगों की यह मान्यता है कि 'बलीया के दो भाग' वाली नीति रखने से ही जीवन–व्यवहार ठीक–ठीक चल सकता है। परन्तु ज्ञानी पुरुषों

रखती? वह अपने बच्चों पर समभाव न रखती और उनके साथ भी क्रूरता का ही व्यवहार करती तो आज उसकी जाति का अस्तित्व होता? इस प्रकार ससार में सर्वत्र समभाव की मात्रा पाई जाती है और समभाव के कारण ही ससार का अस्तित्व है। यों तो प्रत्येक प्राणी में न्यूनाधिक समभाव पाया ही जाता है परन्तु ज्ञानी पुरुष समभाव पर ज्ञान का कलश चढ़ाना चाहते हैं। *ज्ञानपूर्वक समभाव ही सामायिक है।*

आप लोग सामायिक में बैठते हैं पर उस समय आपका प्राणीमात्र पर समभाव रहता है या नहीं? आप सामायिक में बैठे हों उसी समय कोई व्यक्ति आकर आपके कानों में से मोती निकाल ले जाय तो आप चिल्लाहट मचायेंगे? उस समय आपको विचारना चाहिए—मोती ले जाने वाला बेचारा दुःखी होगा। उसे उसकी आवश्यकता होगी, इसलिए वह ले गया है। इस प्रकार विचार करके आप मोती ले जाने पर क्रोध न करें तो समझना चाहिए कि आप में समभाव है। ऐसी अवस्था प्राप्त कर लेने पर ही आपकी सच्ची सामायिक होगी। यही नहीं, कोई पुरुष शरीर पर आघात करने आवे, फिर भी उस पर विषमभाव उत्पन्न न होना सामायिक की कसौटी है। कदाचित् कोई सहसा इस उच्च स्थिति पर न पहुंच सके तो भी लक्ष्य तो यही होना चाहिए। सैनिक एकदम सही निशाना लगाना नही सीख लेता, मगर वह सावधान होकर अभ्यास करता है और अन्त में सफल निशानेबाज बन जाता है। इसी प्रकार जीवनसिद्धि का लक्ष्य साधने के लिए समभाव का निरन्तर अभ्यास रहना चाहिए। सैनिक अभ्यास करते—करते बहुत बार निशाना चूक जाता है, फिर भी उसका ध्यान तो लक्ष्य साधने का ही होता है। इसी प्रकार जीवन में पूर्ण समभाव न उतारा जा सके तो भी लक्ष्य यही होना चाहिए और शनैः शनैः ही सही, पर उसी ओर अग्रसर होते जाना चाहिए। अभ्यास करते रहने से किसी दिन पूर्ण सामायिक प्राप्त होगी और जीवन समभावमय बन जायेगा। सामायिक करते समय इतने समभाव का अभ्यास तो कर ही लेना चाहिए कि जब आप सामायिक में बैठे हों और उस समय कोई आपको गालियां दे तो भी उस पर समभाव रह सके। आपके अन्तःकरण मे इतना समभाव आ जाये तो आपको समझना चाहिए कि अब हमारा तीर निशाने पर लगने लगा है। इसके विपरीत मुँहपत्ती बॉधते—बॉधते कानो पर निशान पड जाएं और सामायिक करते—करते वर्षो बीत जाए, फिर भी जब आप सामायिक मे बैठे और कोई गाली दे तो आप समभाव न रख सके तो समझना चाहिए कि आपका लक्ष्य कही है और आप तीर कही अन्य जगह मार रहे हैं। यहां

में और किसी भी स्थान पर शान्ति नहीं मिल सकती, फिर भले ही वह कार्य राजनीतिक हो या सामाजिक हो। सामायिक होने पर ही सब कार्यों में शान्ति मिल सकती है। जिसमे समभाव होता है उसका हृदय माता के हृदय के समान बन जाता है। सामायिक करने से अर्थात् समभाव धारण करने से जीव को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा ही है कि समभाव धारण करने से अर्थात् सामायिक करने से सावद्य योग दूर हो जाता है। और जिस सामायिक से सावद्य योग निवृत्त हो जाता है, वही सच्ची और सफल सामायिक है।

यहा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सामायिक करने से जिस सावद्य योग की निवृति होती है, वह सावद्य योग क्या है ? इस संबंध मे कहा है–

कम्मं सावज्जं जं गरहियं ति कोहाईअ व चत्तारि।
सह तेहि जो होउ जोगो पच्चक्खाणं भवइ तस्स।।

इस गाथा में सावद्य योग की व्याख्या की गई है। इसका भावार्थ यह है कि निन्दनीय कार्य सावद्य कहलाता है अथवा क्रोध, मान, माया और लोभ को सावद्य योग कहते हैं, क्योंकि समस्त निन्दनीय कर्म कषाय के अधीन होकर ही किये जाते है। निन्दनीय कर्मो का कारण कषाय है, अतःकरण में कार्य का उपचार करके कषाय भी सावद्य योग कहा गया है। इस सावद्य के साथ जो व्यापार (प्रवृत्ति) की जाती है, वह सावद्य योग कहलाता है। सावद्य योग का निषेध करना, सावद्य योग का प्रत्याख्यान कहलाता है।

इस गाथा में आये हुए 'सावज्जं' शब्द का 'सावर्ज्य' भी अर्थ होता है और 'सावद्य' भी। पापयुक्त कार्य सावद्य कहलाता है और गर्हित या निन्दित कार्य 'सावर्ज्य' कहा जाता है।

आर्य की व्याख्या करते हुए एक बार मैंने कहा था–

आरात सकलहेयधर्मेभ्य इति आर्यः।

अर्थात्–समस्त हेय धर्मो–पापकर्मो का त्याग करने वाला आर्य है। जो कार्य आर्य पुरुषो द्वारा त्यागे गये है अथवा उनके द्वारा जो निन्दित है वे सब कार्य सावद्य है। श्रेष्ठ पुरुष कभी निदित कार्य नहीं करते। जिन कार्यो से जगत् का कल्याण होता है। वह श्रेष्ठ कार्य है और संसार का अहित करने वाले कार्य निदित कर्म है। सारा ससार जूआ खेलने लगे तो क्या संसार का अहित नही होगा? ऊपर से तो जूए मे अल्प आरम्भ दिखाई देता है परन्तु

2 चतुर्विंशतिस्तव

प्रश्न–चउव्वीसत्थएणं भन्ते! जीव किं जणयइ?

उत्तर–चउव्वीसत्थएणं दंसण विसोहिं जणयइ।।9।।

अर्थात्

प्रश्न–चौबीस जिनों की स्तुति करने से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर–चतुर्विंशतिस्तव से दर्शन विशुद्धि होती है।

भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थकरो का स्तवन करना, उनकी प्रार्थना करना या उनकी भक्ति करना चतुर्विंशतिस्तव कहलाता है। चौबीस तीर्थकरों की स्तुति करने से जीव को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान ने फरमाया है कि चौबीस तीर्थकरों की स्तुति करने से दर्शन की विशुद्धि होती है।

तीर्थकरों के स्तवन के अनेक भेद हैं। जैसे–नाम स्तवन, स्थापना स्तवन, द्रव्य स्तवन, भाव स्तवन, काल स्तवन, क्षेत्र स्तवन आदि। इन सब भेदों को स्फुट करने के लिए कुछ विवेचन करना आवश्यक है।

नामस्तवन के भी दो भेद हैं। एक भेद–नामस्तवन, दूसरा अभेद–नामस्तवन। भगवान् ऋषभदेव को ऋषभदेव कहना और भगवान महावीर को महावीर कहना अभेद–नाम है। इस अभेद नाम का स्तवन करना अभेद–नामस्तवन कहलाता है। किसी एक जीव या एक अजीव अथवा किसी जीवाजीव या अनेक जीवों अथवा अनेक अजीवो को तीर्थकरों का नाम देना भेद नाम कहलाता है। भेद नाम मे और अभेद नाम में बहुत अन्तर है। अभेद नाम से उसी वस्तु का बोध होता है किन्तु भेद नाम से किसी भी वस्तु को, किसी भी नाम से संबोधन किया जा सकता है। जैसे रुपया को रुपया कहना अभेद नाम है लेकिन बालक का रुपया नाम रख देना भेद नाम है। भेद नाम से भेद जैसा और अभेद नाम से अभेद जैसा कार्य होता है। भेद नाम से

पुद्गल को रूपी कहते हैं, लेकिन अरूपी क्या तुम्हें दिखाई देता है? मंडूक श्रावक ने इस प्रश्न का उत्तर दिया–'हम अरूपी को नही देख सकते।

कालोदधि–जिस वस्तु को तुम देख नहीं सकते, उस पर श्रद्धा करना और उसे मानना कोरा पाखंड नहीं तो क्या है?

मंडूक–हे देवानुप्रिय! तुम्हारे कथन का आशय यह हुआ कि जो वस्तु देखी जा सके उसे ही मानना चाहिए? जो न देखी जा सके उसे नहीं मानना चाहिए। किन्तु मैं पूछता हूं कि पवन, गन्ध और शब्द को तुम आंखों से देख सकते हो? समुद्र के एक किनारे पर खड़े होकर दूसरा किनारा देख सकते हो? अगर नहीं, तो क्या पवन, गन्ध, शब्द और दूसरे किनारे को नहीं मानना चाहिए? तुम्हारा पक्ष तो यही है कि जो वस्तु देखी न जा सके उसे मानना ही नहीं चाहिए।

मंडूक का यह युक्तिवाद सुनकर कालोदधि प्रभावित हुआ। वह सोचने लगा–भगवान महावीर के गृहस्थ शिष्य इतने कुशल हैं तो स्वयं भगवान् कैसे होंगे?

मंडूक श्रावक जब भगवान् महावीर के पास आया तब भगवान् ने उससे कहा–हे मंडूक! तूने कालोदधि को ऐसा उत्तर दिया था?'

मंडूक बोला–हां भगवन्! मैंने यही उत्तर दिया था। मेरे उत्तर को आप अपने ज्ञान से जानते ही हैं।

भगवान् ने कहा–हे मंडूक! तुने कालोदधि को समीचीन उत्तर दिया था। यदि तुम कहते कि मैं धर्मास्तिकाय देखता हूं, तो तुम अनन्त अरिहंतों की अवहेलना करते। मगर तुमने जो उत्तर दिया, वह समीचीन है।

लोक–व्यवहार में भी अनुमान को प्रमाण मानना पडता है। उसके विना व्यवहार में भी काम नहीं चल सकता। ऐसी स्थिति में धर्म के विषय में अनुमान प्रमाण क्यों न माना जाय? नदी को देखकर प्रत्येक मनुष्य उसके उद्गम स्थान का अन्दाज लगाता है। आप सिर्फ नदी देख रहे हैं, उसका उद्गम–स्थान आपको दिखाई नही देता, फिर भी नदी देखने से उसका उद्गम स्थान मानना ही पडता है। इसी न्याय से सर्वज्ञ और वीतराग भगवान् ने जो कुछ कहा है उसे भी सत्य मानना चाहिए। तीर्थंकर भगवान ने अपने ज्ञान–प्रकाश द्वारा देखकर ही प्रत्येक बात का प्ररूपण किया है, इसी कारण कहा गया है कि जो भगवान् तीन लोक में उद्योत करने वाले हैं उन्हें मैं नमस्कार करता हू। इसी तरह जो अरिहन्त भगवान् धर्म की स्थापना करते

3 वंदना

प्रश्न–वंदणएणं भंते! जीवे किं जणयई?

उत्तर–वंदणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ। उच्चागोयं निबंधइ, सोहग्गं च णं अप्पडिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ, दाहिणभावं च णं जणयइ।।

अर्थात्

प्रश्न–भगवन्! वन्दना करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर–वन्दना करने से जीव नीचगोत्र कर्म का क्षय करता है, उच्च गोत्र का बंध करता है, सुभग, सुस्वर आदि का बंध करता है, सब उसकी आज्ञा मानते हैं और वह दाक्षिण्य को प्राप्त करता है।

चौबीस तीर्थकरों की प्रार्थना करने के संबंध में पहले विवेचन किया जा चुका है। जिनकी प्रार्थना की जाती है, जिनका स्तवन किया जाता है, उन तीर्थंकर भगवान् को वन्दना–नमस्कार भी करना ही चाहिए। अतः यहां वन्दना के विषय में कहा जायगा। कदाचित् कोई तीर्थंकर की प्रार्थना न कर सके परन्तु वन्दना तो सभी कर सकते हैं ? अतः शास्त्र में वन्दना के फल के विषय मे प्रश्न किया गया है।

'वदि' धातु से वन्दना शब्द बना है। वन्दन शब्द का अर्थ अभिवादन करना भी होता है और स्तुति करना भी होता है। वंदना कब करनी चाहिए? इस प्रश्न के उत्तर मे यह क्रम है कि सर्वप्रथम सामायिक करनी चाहिए अर्थात् पहला सामायिक आवश्यक है, तत्पश्चात् चौबीस जिनस्तवन आवश्यक है और फिर वन्दन आवश्यक है। वंदना करने की भी विधि है। वन्दना किस प्रकार करनी चाहिए, इस विषय पर शास्त्रकारो ने बहुत प्रकाश डाला है। आज तो वदना करने की विधि मे भी न्यूनता नजर आती है, मगर शास्त्रीय वर्णनो से प्रतीत होता है कि प्राचीन काल मे विधिपूर्वक ही वंदना की जाती

'तिविहेणं' कहेंगे यह कहने का तात्पर्य यह है कि वहीं से मन, वचन और काय से नमस्कार कर लो।

अगर आचार्य 'छंदेणं' कह कर अविग्रह में प्रवेश करने की स्वीकृति दे तो उस समय बालक के समान अथवा दीक्षा धारण के समय के समान नम्रता धारण करके, हाथ में ओघा रखकर और मुख पर मुखवस्त्रिका सहित अविग्रह मे 'निस्सही निस्सही' (अर्थात् मैं मन, वचन, काय से सावद्य योग का त्याग करता हूं) कहते हुए गुरु के अविग्रह में प्रवेश करना चाहिए और फिर गुरु के चरणों मे निकट पहुंच कर बारह प्रकार का आवर्त्तन करना चाहिए। आवर्त्तन करते समय 'अहोकायं काय संफासियं' ऐसा बोलते जाना चाहिए। 'अहोकाय काय' इसमें छह अक्षर हैं। इन छह अक्षरों में से दो दो अक्षर का एक एक आवर्त्तन होता है। इस प्रकार 'अहोकायं काय' इन छह अक्षरों के तीन आवर्त्तन हुए। 'अहोकायं काय' ऐसा बोलते हुए आवर्त्तन करना और 'संफासियं' शब्द का उच्चारण करते समय अपने हाथ और मस्तक द्वारा गुरु के चरण का स्पर्श करना चाहिए।

'अहोकायं काय संफासियं' का अर्थ है 'हे गुरु महाराज! आपकी नीची काया अर्थात् चरण को मैं अपनी ऊँची काया अर्थात् मस्तक से स्पर्श करता हूं।'

आवर्त्तन और चरणस्पर्श करने के पश्चात् इस प्रकार कहना चाहिए–

'खमणिज्जो भे! किलामो अप्पकिलंताणं बहु सुभेणं भे दिवसो वइक्कंतो।'

अर्थात्–हे पूज्य! अपनी ऊँची काया द्वारा आपकी नीची काया का स्पर्श करते समय आपको जो कुछ क्लेश हुआ हो, मेरा वह अपराध क्षमा कीजिए।

यह कैसी सूचना दी गई है? इस क्षमायाचना से इस रहस्य का ज्ञान होता है कि जब गुरु के चरणस्पर्श करने मे भी गुरु को कष्ट न पहुंचने जैसी सूक्ष्म बात का ध्यान रखा जाता है तो फिर दूसरे प्रकार का कष्ट न होने देने के विषय में कितना ध्यान रखना चाहिए? जिस घर मे एक कौड़ी भी वृथा खर्च नही की जाती, उस घर मे रुपया–पैसा वृथा खर्च कैसे किया जा सकता है? इसी प्रकार जहा चरणस्पर्श करने मे भी कष्ट न पहुंचाने का ध्यान रखा जाता है और इतनी सूक्ष्म बात के लिए भी क्षमायाचना की जाती है, वहां अन्य बातों पर क्यों नही ध्यान दिया जाता होगा? मगर इसका यह अर्थ नही लगाना चाहिए कि गुरु को कष्ट होने का विचार करके उनके चरणों का स्पर्श

जैसे पति–पत्नी अग्नि की प्रदक्षिणा करके एक दूसरे के धर्म को स्वीकार करते हैं उसी प्रकार शिष्य भी आवर्त्तन द्वारा वीरतापूर्वक गुरु का धर्म स्वीकार करता है। गुरु का धर्म स्वीकार करने के पश्चात् वह शिष्य यदि गुरु के धर्म के विरुद्ध प्रवृत्ति न करे तो ही उसका आवर्त्तन और वंदन सच्चा समझो।

कहने का आशय यह है कि गुरु के अविग्रह में प्रवेश करते समय दो बार मस्तक झुकाना दो आवश्यक हुए। फिर नवदीक्षित के समान नम्र हो जाना यह एक आवश्यक हुआ। तदनन्तर बारह आवर्त्तन करना बारह आवश्यक हैं। इस प्रकार यहां तक पन्द्रह आवश्यक हुए। चार वार मस्तक नमाने के चार आवश्यक हुए, तीन गुप्तियों के तीन आवश्यक, दो आवश्यक प्रवेश करते समय के और एक आवश्यक निकलते समय का। इस तरह सब मिलाकर पच्चीस आवश्यक होते हैं।

तीन गुप्ति का अर्थ यह है कि मन, वचन और काय को एकाग्र करके गुरु को वंदना करनी चाहिए। गुरु को वंदना करते समय इस प्रकार विचार करना चाहिए कि अनेक जन्म–जन्मान्तर में भटकने के बाद मुझे जो मन की प्राप्ति हुई है, उसकी सार्थकता गुरु को वंदन करने से ही हो सकती है। अतएव मन को खराब कामों मे नहीं पिरोना चाहिए। मान लीजिए किसी मनुष्य को कीमती मोती मिला हो तो क्या वह मामूली मिठाई के बदले उसे दे देगा? अगर नहीं तो जो मन अनेक जन्म–जन्मान्तरों के अनन्तर मिला है, उस मन को खराब कामों में पिरो देना क्या उचित कहा जा सकता है? अनेक–विध कठिनाइया झेलने के बाद जो मन मिला है, उसकी कीमत समझकर और मन को एकाग्र करके गुरु को वंदना की जाय तभी मन का पाना सार्थक कहा जा सकता है। जिस वंदना का फल यहां तक बतलाया गया है कि बंधा हुआ नीच गोत्र–कर्म भी वंदना से क्षीण हो जाता है और उच्च गोत्र का बंध होता है। उस वदना के समय भी यदि मन एकाग्र न हुआ तो फिर किस समय होगा? मगर लोक सत्कार्य में मन एकाग्र नही करते और यही अधोगति का कारण है।

मन एकाग्र करना ही मन की गुप्ति है, फिर वचन से बहुमानपूर्वक श्रेष्ठ अलंकार बोलते हुए गुरु को वंदना करना कायगुप्ति है।

यह सब पच्चीस आवश्यक हुए। इन आवश्यको की रक्षा करके और वंदना के बत्तीस दोष टालकर गुरु को वंदना की जाती है, वही सच्ची वंदना है।

कहा जाता है कि नीच गोत्र वाले को मुक्ति नहीं मिल सकती, लेकिन यह ध्यान में रखना चाहिए कि नीच–गोत्र कर्म का क्षय भी हो जाता है और तब वह मुक्ति का अधिकारी क्यों न होगा? नीचगोत्र में उत्पन्न हो कर के भी उच्च पुरुषों की वाणी का पालन करने वाला मुक्ति प्राप्त कर सकता है। गोत्र दो प्रकार का है–एक जन्म जात गोत्र और दूसरा कर्मजात गोत्र। जन्मजात गोत्र कर्म द्वारा बदला जा सकता है। श्री उत्तराध्ययनसूत्र मे कहा है–

सोयागकुलसंभूओ, गुणुत्तरधरो मुणी।
हरिएस बलो नाम, आसी भिक्खू जिइंदिओ।।

–उत्तराध्ययन 12–1।

इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि चाण्डाल कुल में उत्पन्न हो जाने पर भी महापुरुषों की वाणी का पालन करने वाला उच्चगोत्री है और ब्राह्मणकुल मे उत्पन्न हो करके भी नीच वाणी को पालने वाला नीचगोत्रवान् है। महाभारत में भी कहा है कि ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने वाला व्यक्ति भी चांडाल बन सकता है। इससे साफ जाहिर हो जाता है कि उच्चता और नीचता जन्मजात ही नहीं किन्तु कर्मजात भी है।

आपको ऐसा विचार नहीं करना चाहिए कि हम उच्च कुल में जन्म चुके हैं, इसलिए अब हमें कुछ भी करना शेष नहीं रहा, इसके विपरीत आपको यह विचारना चाहिए कि हम जितने अंशों में महापुरुषों की वाणी का पालन करते हैं उतने अशों में तो उच्च गोत्र के हैं और जितने अंशों में उस वाणी का पालन नहीं करते उतने अंशों में उच्चगोत्री नहीं हैं। इस प्रकार विचार करने से ही अपनी अपूर्णता देखी जा सकती है और फलस्वरूप अपूर्णता दूर करने का प्रयत्न करके आत्मा का कल्याण किया जा सकता है।

अहकार को जीतना वदना का एक प्रधान प्रयोजन है। वंदना का अर्थ नम्रभाव धारण करना है। नम्रभाव धारण करने वाला ही अहंकार को जीत सकता है परन्तु वदना सासारिक पदार्थो की स्वार्थभावना से नही होनी चाहिए। सासारिक पदार्थो की कामना से तो सभी लोग नमनभाव धारण कर लेते हैं। क्या व्यापारी अपने ग्राहक को नमन नही करता? बचपन मे मैंने इस स्थिति का अनुभव किया है कि व्यापारी किस प्रकार ग्राहक को नमन करते हैं। मैं जब छोटा था और दुकान पर बैठता था तब मुझे यह अनुभव हुआ था कि ग्राहक की कितनी प्रशसा और कितना आदर किया जाता है। लेकिन यह सब नमनभाव उसकी गाठ का पैसा निकलवाने के लिए ही होता है। इस

नहीं होगा तो वंदना किये विना ही मुक्ति मिल जायेगी। अगर कोई वंदना करता है तो उसे सोचना चाहिए कि वह किसको और किस उद्देश्य से वदना कर रहा है? राजपुरुष आदि को जो वंदना की जाती है वह उसकी सत्ता के कारण की जाती है, लेकिन वंदना करने योग्य गुणों से रहित पासत्था आदि को वदना करने का उद्देश्य क्या है? यहां जिस वंदना का प्रकरण चल रहा है, वह वंदना संयमादि गुणों से हीन पुरुषों को करना उचित नहीं है। क्यों उचित नहीं है, यह वताने के लिए इस गाथा में कहा है कि पासत्था को वंदना करने से कीर्त्ति भी नहीं मिलती। कहा जा सकता है कि कीर्त्ति न मिले तो न सही, निर्जरा तो होगी? मगर आगे इसी गाथा में कहा है कि पासत्था आदि को वंदना करने से निर्जरा भी नहीं होती। कोई कह सकता है—निर्जरा न हो तो न सही, वदना करने में हानि क्या है? इसके उत्तर में कहा है—पासत्था आदि को वंदना करने से निरर्थक कायक्लेश होता है। कदाचित् कहा जाय कि ऐसा कायक्लेश तो होता ही रहता है, इसके अतिरिक्त और कोई हानि तो नहीं होती? इस प्रश्न के उत्तर में गाथा में बतलाया गया है कि पासत्था आदि को वंदना करने से सिर्फ कायक्लेश ही नहीं होता वरन् अनाज्ञाकर्म का वंध भी होता है। अर्थात् भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध कार्य करने का पाप लगता है।

मान लीजिए, चम्पा के फूलो की माला अशुचि मे पड गई है। यद्यपि चम्पा के फूलों की माला आपकी दृष्टि मे अच्छी वस्तु है, फिर भी अशुचि में पडी हुई वह माला पहनने योग्य नही है। इसी प्रकार जो लोग पासत्थापन की अशुचि में पड गये हैं, उनके प्रति बुद्धिमान् पुरुष किसी प्रकार का द्वेष धारण नही करते किन्तु साथ ही गुणी जनों के प्रति की जाने योग्य वंदना भी नही करते। निशीथसूत्र मे भी कहा है—

जे भिक्खू पासत्थं वंदई, वंदंत वा साइज्जइ, एवं कुसीलं उसन्नं, अहाछंदं संसत्तं।

इस प्रकार पार्श्वस्थ आदि को वंदना करने का वहुत कुछ निषेध किया गया है। यह ठीक है कि वंदना करने से वहुत लाभ होते हैं, मगर गुणरहित को वंदना करने से लाभ के वदले उलटी हानि ही होती है। वंदना के जो वत्तीस दोष वतलाये गये हैं, उनके वर्णन करने का अभी समय नही है। अतएव संक्षेप मे मैं इतना ही कहता हूं कि पच्चीस आवश्यक सहित और वत्तीस दोषरहित वंदना करने का फल नीच गोत्र का क्षय करना और उच्च गोत्र वाधना है।

न हो सकते होते तो भगवान् वंदना का फल यह न बतलाते कि वंदना से नीचगोत्र का क्षय और उच्चगोत्र का बंध होता है। मगर भगवान् ने वंदना का यही फल बतलाया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कृत कर्म भी बदल सकते हैं और उनकी निर्जरा भी की जा सकती है। वंदना करने से अर्थात् नम्रता धारण करने से भी कर्मो का क्षय होता है।

वंदना का एक फल नीचगोत्र का क्षय और उच्चगोत्र का बंध होना है–दूसरा फल सौभाग्य की प्राप्ति है और तीसरा अप्रतिहत होना है अर्थात् वंदना करने वाला किसी से पराजित नहीं होता। वंदना का चौथा फल यह है कि वंदना करने वाले की आज्ञा के अनुसार कार्य होता है, अर्थात् उसकी आज्ञा का कोई लोप नहीं करता। वंदना का पॉचवॉ फल दाक्षिण्य गुण आना है अर्थात् वंदना करने से होशियारी एवं सर्वप्रियता प्राप्त होती है।

आजकल के अधिकांश लोगों ने वंदना को भी स्वार्थ साधन का एक उपाय बना लिया है और इसलिए चाहे जिसे वंदना कर ली जाती है। प्राचीन काल में यह बात नहीं थी। उस समय मस्तक भले ही काट लिया जाय पर गुणहीनों के सामने मस्तक नहीं झुकाया जाता था। धर्म के विषय में भी यह नियम पालन किया जाता था और व्यवहार में भी इस नियम का पालन होता था। कहा जाता है कि मुगल–सम्राट् अकबर ने महाराणा प्रताप को कहला भेजा था कि अगर राणा मेरे आगे नतमस्तक हों तो मैं उन्हें मेवाड के राज्य के अतिरिक्त और भी राज्य दूंगा। परन्तु महाराणा ने प्रत्युत्तर दिया–'मैं उन्हे धार्मिक समझ कर नमस्कार करू, यह बात जुदा है, किन्तु लोभ के वश होकर तो कदापि नमस्कार नहीं करूँगा। ऐसा करने से मेरी माता को ही कलंक लगता है।' राणा प्रताप मे ऐसी दृढता थी। इस दृढ़ता के कारण उन्हें जंगल मे इधर–उधर भटकना पडा और संकटो में रहना पडा। राणा ने अपना कुलधर्म निभाने के लिए सभी कष्ट सहना स्वीकार किया किन्तु बादशाह के आगे नतमस्तक होना स्वीकार नहीं किया।

धर्ममार्ग मे भी इसी प्रकार की दृढता धारण की जाय और संयम आदि गुणो के धारको को विधिपूर्वक वंदना की जाय तो भगवान् द्वारा प्ररूपित वदना का फल अवश्य प्राप्त होता है। मगर दृढता धारण किये बिना फल की प्राप्ति नही होती। कामदेव और अरणक को पिशाच ने कैसे–कैसे कष्ट दिये थे? फिर भी उन्होंने पिशाच के सामने सिर नहीं झुकाया! यह धर्मदृढता का ही परिणाम है। धर्म मे दृढता रखने वाले के चरणो में देवता आकर नमन करते हैं। पहले देव ने कामदेव को कष्ट दिये थे किन्तु अन्त मे

4 प्रतिक्रमण

गुरु को विधिपूर्वक वदना करने के लिए हृदय के भाव शुद्ध रखने चाहिएं मगर कभी–कभी शुद्ध भाव हृदय से निकल जाते हैं और अशुद्ध भाव उनका स्थान ग्रहण कर लेते हैं। इन अशुद्ध भावों को बाहर निकालने और आत्मा मे पुनः शुद्ध भाव लाने के लिए प्रतिक्रमण करने की आवश्यकता वतलाई गई है। अतएव प्रतिक्रमण के संबध में भगवान् से प्रश्न किया गया है :–

प्रश्न–पडिक्कमणेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

उत्तर–पडिक्कमणेणं वय–छिद्दाइं, पिहेइ, पिहिय वयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबल चरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते (अप्पमत्ते) सुप्पणिहिए विहरइ।।1।।

अर्थात्

प्रश्न–भगवन्! प्रतिक्रमण करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर–प्रतिक्रमण करने से अहिसा आदि व्रतों के अतिचार (दोष) रुकते हैं और अतिचारों को रोकने वाला जीव आस्रव को रोकता हुआ तथा निर्मल चारित्र का पालन करता हुआ आठ प्रवचनमाता (पांच समिति और तीन गुप्ति) रूप सयम मे उपयुक्त, अप्रमत्त और सुप्रणिहित होकर विचरता है अर्थात् निजस्वरूप को प्राप्त करता है।

किस उद्देश्य से प्रतिक्रमण करना चाहिए और प्रतिक्रमण करने से क्या लाभ होता है? इस विषय मे अभी ऊहापोह न करते हुए सिर्फ इतना कहता हू कि भगवान् की आज्ञा के अनुसार प्रथम और अन्तिम तीर्थकरों के साधुओं को प्रतिक्रमण करना ही चाहिए। बीच के बाईस तीर्थकरों के साधु ऋजु–सरल होते हैं अतएव जब उन्हें दोष लगता है तब वे प्रतिक्रमण करते

स्वस्थान से परस्थान जाना है। इस परस्थान से आत्मा को फिर स्वस्थान में लाना ही प्रतिक्रमण कहलाता है।

जैनशास्त्र परमात्मा के साथ संवंध स्थापित करने की बात कहकर ही नहीं रह जाते। वे संवंध स्थापित करने के लिए उपाय भी बतलाते हैं। प्रतिक्रमण के उपदेश का प्रयोजन ईश्वर के साथ संवंध जोडना ही है। प्रतिक्रमण करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है, इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है– प्रतिक्रमण करने से व्रत में पडे हुए छिद्र ढक जाते हैं। अर्थात् अंगीकार किये हुए व्रतों में अतिचाररूपी जो छिद्र पड जाते हैं, वह प्रतिक्रमण करने से मिट जाते हैं।

'प्रतिक्रमण' शब्द 'प्रति' और 'क्रमण' इन दो शब्दों के संयोग से बना है, जिसका अर्थ होता है–परस्थान में प्राप्त आत्मा को स्वस्थान पर लाना। स्वीकार किये व्रतों में दोष आना भी आत्मा का अपने स्थान से पतित होना है। उस पतित स्थान से आत्मा को फिर वापस लौटाना और अपने स्थान पर अर्थात् व्रतपालन में स्थिर करना प्रतिक्रमण कहलाता है।

आत्मा जब व्रतों को अंगीकार करता है तो सावधानी से ही अंगीकार करता है; परन्तु फिर प्राकृतिक दुर्बलता के कारण या छद्मस्थता के कारण व्रतों का पालन करने मे किसी न किसी प्रकार की भूल हो जाना सम्भव है। भगवान् ने अपने ज्ञान से यह बात जानकर आज्ञा दी है कि मेरे शासन के साधु–साध्वियों को प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिए, क्योकि इस काल में यह सम्भव नहीं है कि उनके व्रतों में कोई भी दोष न लगे। अतएव नियमितरूप से प्रतिक्रमण करना ही चाहिए।

पूज्य श्री श्रीलालजी महाराज बहुत बार कहा करते थे कि पक्का मकान थोड़े दिनों तक संभाला न जाय और उस मकान में जब कोई छिद्र दृष्टिगोचर हो तब छिद्र को ढक दिया जाय तो उस मकान के तत्काल पड़ जाने की सम्भावना नहीं रहती और न उसे और कोई हानि होने का डर रहता है; परन्तु जो मकान कच्चा होता है उसे निरन्तर सम्भालने की आवश्यकता बनी रहती है और कही जरा सा छिद्र नजर आया कि तत्काल मून्द देना आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार बीच के बाईस तीर्थकरों के शासन के साधुओं के व्रत पक्के मकान सरीखे होते हैं। अतएव जब वे अपने व्रतों में छिद्र देखते हैं तो प्रतिक्रमण करते हैं, छिद्र नहीं देखते तो प्रतिक्रमण भी नहीं करते। परन्तु चौवीसवें तीर्थकर के साधुओं के व्रत कच्चे मकान के समान हैं। अतः

में लगा हुआ दाग प्रतिक्रमण रूपी निर्मल नीर से धुल जाता है और इस कारण चारित्र निर्मल रहता है।

प्रतिक्रमण करना एक प्रकार से फिसली हुई आत्मा को सावधान करना ही है। प्रतिक्रमण करना आत्मारूपी घडी को चाबी देना है। अगर कोई घडी ऐसी हो कि जब तक उसमें चाबी घुमाई जाती रहे तब तक वह चलती रहे और चाबी घुमाना बन्द करते ही वह बन्द भी हो जाय, तो यही कहा जायेगा कि घड़ी बिगड़ी है। एक बार चाबी देने पर नियत समय तक चलने वाली घड़ी ही अच्छी घडी कहलाती है। इसी प्रकार एक बार प्रतिक्रमण–रूपी चाबी देने के पश्चात् आत्मा को नियत समय तक तो सावधान रहना ही चाहिए। अगर प्रतिक्रमण करते समय आत्मा शुभ योग में रहे और प्रतिक्रमण बन्द करते ही शुभ योग से गिर जाये तो बिगड़ी घड़ी के समान ही उसका व्यवहार कहना चाहिए।

लेना आवश्यक है कि कायोत्सर्ग का अर्थ क्या है? काय का उत्सर्ग अर्थात् त्याग करना कायोत्सर्ग है। काय के उत्सर्ग या त्याग करने का अर्थ यह नही है कि शस्त्र के आघात से, विषपान से या अग्नि–पानी में कूद करके मर जाना और इस प्रकार शरीर का त्याग कर देना। किन्तु शास्त्र में कही हुई रीति के अनुसार कार्य का त्याग करना ही कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग के विषय में शास्त्र में खूब स्पष्टीकरण किया गया है। यहां थोड़ा–सा विवेचन करना आवश्यक है।

काय का त्याग दो प्रकार से होता है–प्रथम तो जीवन भर के लिए और दूसरे परिमित समय के लिए। जीवन भर के लिए किये जाने वाले कायोत्सर्ग के दो भेद हैं। एक यावज्जीवन कायोत्सर्ग उपसर्ग आने पर किया जाता है और दूसरा बिना उपसर्ग ही यावज्जीवन कायोत्सर्ग किया जाता है। उपसर्ग उपस्थित होने पर यावज्जीवन के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है, उसमें यह भावना रहती है कि उपसर्ग के कारण मैं मर गया तो मेरा यावज्जीवन कायोत्सर्ग है। अगर मैं जीवित बच गया तो जब तक उपसर्ग रहे तब तक के लिए ही यह कायोत्सर्ग है। निरुपसर्ग यावज्जीवन कायोत्सर्ग में ऐसा आगार नहीं रहता। निरुपसर्ग यावज्जीवन कायोत्सर्ग में पादोपगमन संथारा ऐसा होता है कि जैसे वृक्ष से काट डाली गई डाली निश्चेष्ट हो जाती और सूख जाती है, उसी प्रकार यह संथारा धारण करने वाले महात्मा अपने शरीर को 'शुष्क' कर डालते हैं। इस प्रकार का संथारा न कर सकने वाले के लिए इंगित मरण संथारा बतलाया गया है लेकिन जो लोग इंगितमरण संथारा भी नहीं कर सकते, उनके लिए चौविहार या तिविहार का त्याग रूप यावज्जीवन कायोत्सर्ग बतलाया गया है। किन्तु इस प्रकार के सब निरुपसर्ग यावज्जीवन कायोत्सर्ग तभी किये जाते हैं जब ऐसा प्रतीत हो कि मरणकाल समीप आ गया है। मरणकाल सन्निकट न आया हो तो इस प्रकार का कायोत्सर्ग अर्थात् संथारा नहीं किया जा सकता। यों तो कायोत्सर्ग अर्थात् संथारा करना अच्छा ही है किन्तु जब तक मरणसमय सन्निकट नहीं है या संथारा करने का कोई कारण नहीं है, तब तक इस प्रकार के कायोत्सर्ग करने का विधान नहीं है। अतएव योग्य समय प्राप्त होने पर संथारा करना ही उचित है।

सिंह वगैरह का कोई प्राणघातक उपसर्ग उपस्थित होने पर भी संथारा किया जाता है, किन्तु वह सथारा इस रूप में किया जाता है कि अगर इस उपसर्ग से मेरे प्राण चले जाएं तो यावज्जीवन के लिए मेरा कायोत्सर्ग

की सभाल रखनी ही पड़ती है, अतएव मर्यादित त्याग किया जाता है। इस प्रकार का मर्यादित त्याग साधु अपनी रीति से करते हैं और श्रावक अपनी रीति से।

सोते समय भी इस प्रकार का संथारा करने की पद्धति है कि अगर सोते-सोते ही मेरा मरणकाल आ जाये तो मेरे यावज्जीवन संथारा है। सोते समय संथारा करने की ऐसी पद्धति है। किन्तु इस प्रकार के संथारे में भावना की प्रबलता होना आवश्यक है। ऐसा संथारा करने के पश्चात् मन सांसारिक कामों में नहीं लगना चाहिए। कहा जा सकता है कि संस्कार के कारण स्वप्न तो आते ही होंगे ! मगर स्वप्न आने पर प्रायश्चित्त लेना चाहिए और उसका प्रतिक्रमण करना चाहिए? अलबत्ता, जहां तक हो सके, सोते समय मन मे किसी भी प्रकार का सांसारिक संस्कार नहीं रहने देना चाहिए।

कायोत्सर्ग करने से जीव को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है-कायोत्सर्ग करने से अतीतकाल और वर्तमानकाल के पापों के प्रायश्चित्त की विशुद्धि होती है। यहां प्रश्न यह किया जा सकता है कि अतीतकाल के प्रायश्चित्त की विशुद्धि तो ठीक है, पर भूतकाल की विशुद्धि में वर्तमानकाल के प्रायश्चित्त की विशुद्धि किस प्रकार होती है ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए टीकाकार कहते हैं कि समीप का भूतकाल भी वर्तमानकाल ही कहा जाता है। अतीतकाल का अर्थ दूरवर्त्ती पिछला काल है और वर्तमानकाल का आशय समीपवर्ती काल है। जैसे-दिन के चार प्रहर होते हैं। आप संध्यासमय प्रतिक्रमण करते है। उस समय सारा ही दिन भूतकाल है लेकिन दिन का चौथा प्रहर समीप का भूतकाल है अर्थात् आसन्नभूत है। इस आसन्नभूत काल को ही यहां वर्तमानकाल कहा है।

भगवान् ने जो उत्तर दिया है, उसके विषय में दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि भगवान् ने कहा है कि कायोत्सर्ग से प्रायश्चित्त की विशुद्धि होती है, लेकिन जिससे पाप का छेदन हो, वही प्रायश्चित्त कहलाता है और इस प्रकार प्रायश्चित्त का अर्थ विशुद्धि है। तो फिर प्रायश्चित्त की विशुद्धि कैसे की जाती है? इसका उत्तर यह है कि यहां प्रायश्चित्त शब्द का प्रयोग व्रत के अतिचारों के लिए किया गया है। प्रायश्चित्त करने योग्य व्रत-संबंधी अतिचारों की कायोत्सर्ग करने से विशुद्धि होती है।

कुछ लोगो का कहना है कि किये हुए पाप का फल भोगना ही पडता है। मगर जब सब चीजो की विशुद्धि होती है तो पाप की ही विशुद्धि

तात्पर्य यह है कि कायोत्सर्ग करने से आत्मा पाप के भार से हल्का हो जाता है। आत्मा निष्पाप होकर प्रशस्त धर्मध्यान में तल्लीन रहता है और मुक्ति उसके समीप आ जाती है। इस प्रकार निष्पाप बना हुआ आत्मा कभी दुखी नहीं होता, सदा सुखी बना रहता है। सुखी बनने का उपाय यही है कि आत्मा पर पाप का जो भार लदा हो उसे कायोत्सर्ग द्वारा उतार दिया जाय। मगर दुनिया की पद्धति निराली ही नजर आती है। लोग धन–पुत्र वगैरह में सुख समझते हैं अर्थात् जिसके ऊपर पाप का भार लदा है उन्हीं को सुखी समझा जाता है और जो लोग पाप के भार से हल्के हो गये हैं उन्हें दुःखी माना जाता है! यह एक प्रकार का भ्रम है। सुखी वास्तव में वही है जिसके सिर पर पाप का भार नहीं रहा, जो पाप का बोझा उतार कर हल्का बन गया है।

आत्मा में अनन्त शक्तियां छिपी हुई हैं। उन्हें प्रकट करने के लिए ही शास्त्रकार कायोत्सर्ग का उपदेश देते हैं। भगवान् कहते हैं–कायोत्सर्ग करने से आत्मा पाप के बोझ से मुक्त होकर सुख–लाभ प्राप्त करता है और प्रशस्त धर्मध्यान में लीन होकर मुक्ति के समीप पहुंचता है। काया के प्रति ममताभाव का त्याग करके कायोत्सर्ग करने वाले को किसी प्रकार का दुःख नहीं रहता। वह सुखी होता है।

हे आत्मन्! तुझमें और परमात्मा में जो भेद है, वह कायोत्सर्ग द्वारा मिट जाता है। व्यतिरेक से इस कथन का अर्थ यह भी हो सकता है कि आत्मा और परमात्मा के बीच भेद डालने वाला यह शरीर ही है। उदाहरणार्थ–आग पर पानी रखने से पानी उबलता है और उबलने पर सन्–सन् की आवाज करता है। यह आवाज करता हुआ पानी मानो यह कह रहा है कि मुझ में आग बुझा देने की शक्ति है, लेकिन मेरे और आग के बीच में यह पात्र आ गया है। मैं इस पात्र में बन्द हूं और इसी कारण आग मुझे उबाल रही है और मुझे उबलना पड़ रहा है। इसी प्रकार आत्मा तो सुखस्वरूप ही है, परन्तु इस शरीर के साथ बद्ध होने के कारण वह दुःख पा रहा है। कायोत्सर्ग द्वारा जब शरीर संबंधी ममत्व भाव त्याग दिया जाता है। तब आत्मा मे किसी प्रकार का दुःख नहीं रह पाता।

में होने वाले पापों को रोकने के लिए प्रत्याख्यान करने की आवश्यकता है। अतएव कायोत्सर्ग करने वाले को प्रत्याख्यान अवश्य करना चाहिए।

प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है कि मूलगुणों और उत्तरगुणों को धारण करने के लिए प्रत्याख्यान किया जाता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—यह पांच मूलगुण हैं और नवकारसी वगैरह उत्तरगुण हैं। अर्थात् साधुओं के लिए पांच महाव्रत मूलगुण हैं और नवकारसी आदि उत्तरगुण हैं। इसी प्रकार श्रावकों के लिए पांच अणुव्रत मूलगुण हैं और नवकारसी वगैरह उत्तरगुण हैं। स्थूल हिंसा न करना, स्थूल असत्य न बोलना, स्थूल चोरी न करना, परस्त्रीगमन न करना और परिग्रह की मर्यादा करना यह पांच अणुव्रत श्रावक के मूलगुण हैं और सात व्रत उत्तरगुण हैं। उत्तरगुण कहलाने वाले सात व्रत मूलगुणों के लिए बाड़ के समान हैं। मगर ध्यान रखना चाहिए कि बाड उसी खेत में लगाई जाती है, जिसमें कुछ हो। जिस खेत में कुछ भी नहीं होता, उस खेत के चारों ओर बाड़ लगाना व्यर्थ समझा जाता है। किसी श्रावक में उत्तरगुण न हों परन्तु मूलगुण हों तो उसे शास्त्र इतना अनुचित नहीं मानता, जितना अनुचित मूलगुण न होना मानता है। मूलगुणों के प्रति तनिक भी सावधानी न रखते हुए केवल उत्तरगुणों से चिपटे रहना एक प्रकार का ढोंग है। उदाहरणार्थ कोई मनुष्य व्यवहार में हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार और परधन का हरण करता रहता है और धर्मस्थान में जाकर सामायिक करने का दिखावा करता है, तो उसका यह दिखावा ठीक नही कहा जा सकता। इतना ही नहीं, ऐसा करने वाला व्यक्ति अपने धर्म और धर्मगुरु को भी लजाता है। इसके विपरीत कोई मनुष्य सामायिक तो नहीं करता किन्तु स्थूल हिंसा भी नहीं करता—बल्कि दुःखी जीवों पर अनुकम्पा करता है, सत्य बोलता है, प्रमाणिकता रखता है और इसी प्रकार अन्य मूलगुणों का पालन करता है तो वह घर में बैठा—बैठा भी साधुओ की महिमा बढ़ाता है। इस प्रकार उत्तरगुणों के लिए मूलगुणों का होना आवश्यक है और मूलगुण होने पर उत्तरगुणों को अपनाने की इच्छा स्वतः उत्पन्न होगी। जिसमें मूलगुण होंगे, वह अपने मूलगुणो को विकसित करने के लिए उत्तरगुणों को अपनाएगा ही। इस प्रकार मूलगुणो के साथ ही उत्तरगुणों की शोभा है। प्रत्याख्यान करने से मूलगुणों और उत्तरगुणों को धारण किया जा सकता है।

प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या फल मिलता है? भगवान् से यह प्रश्न पूछा गया है। वास्तव मे प्रत्येक कार्य का फल जानना आवश्यक है।

कारण ही बोल्शेविज्म–साम्यवाद उत्पन्न हुआ है। भारतवर्ष में भी साम्यवाद का प्रचार बढ़ रहा है। धनवान लोग पूंजी दबाकर बैठे रहें और गरीब दुःख पायें, तब गरीबों को धनिकों के प्रति द्वेष उत्पन्न हो, यह स्वाभाविक है। गरीबों के हृदय में इस प्रकार की भावना, उत्पन्न हो सकती है कि हम तो मुसीबतें उठा रहे हैं और यह लोग अनावश्यक धन दबाकर बैठे हैं। तुम ठाँस–ठाँस कर पेट भरो और बचे तो फैंक दो, मगर तुम्हारे सामने दूसरा मनुष्य भूखे मर रहा हो और उसकी खोजखबर तक न लो! इसी प्रकार तुम्हारे पास अनावश्यक वस्त्र ट्रंकों में भरे पड़े रहें और दूसरा मनुष्य कड़कड़ाती हुई ठंड में सिकुड़कर मर रहा हो फिर भी उसे कपड़ा न दो! तब इन दुःखी मनुष्यों में तुम्हारे प्रति द्वेष की भावना उत्पन्न हो और द्वेष भाव से प्रेरित होकर वे तुम्हारा धन लूटने के लिए तैयार हो जाएं, वह स्वाभाविक है। कदाचित् तुम कहोगे कि कंगाल लोग हमारा क्या बिगाड़ सकते हैं? मगर यह समझना भूल है। ये कंगाल लोग थोड़े नहीं हैं और फिर आज तुम्हारे पास जो धन है वह इन्हीं से तुम्हारे पास आया है। अतएव तुम्हें विचारना चाहिए कि जब वस्तु भेद नहीं करती तो फिर मुझे भेद करने का क्या अधिकार है? वस्तु तो किसी प्रकार का भेद नहीं करती। जो भोजन तुम्हारी भूख शान्त कर सकता है वह क्या दूसरों की भूख नहीं मिटा सकता? इस प्रकार जब वस्तु भेद नहीं करती तो तुम क्यों भेद करते हो? प्राचीन काल में तो ऐसे–ऐसे लोग हो गये हैं, जिन्होंने स्वयं भूखे रहकर भी दूसरों को भोजन दिया! अगर तुम उन सरीखे नहीं बन सकते तो कम से कम इतना तो कर सकते हो कि तुम्हारे पास जो वस्तु अधिक हो उसे दबाकर मत बैठे रहो। तृष्णा के वशीभूत होकर दूसरों के दुःख की उपेक्षा तो मत करो! तृष्णा की पूर्ति न कोई कर सका है और न कभी हो ही सकेगी। अतएव इच्छा का निरोध करके तृष्णा को रोको। इस विषय में जो बात जैनशास्त्र कहता है, वही बात महाभारत में भी कही गई है। महाभारत मे कहा है–

यश्च कामसुखं लोके, यश्च दिव्यं महत्सुखं।
तृष्णाक्षय सुखस्यैते नार्हन्ति षोडशीं कलाम्।।

इस श्लोक का आशय यह है कि, इस लोक में किसी को चक्रवर्ती जैसा पद भले ही प्राप्त हो जाय और देव संबंधी दिव्य सुख भी मिल जाय, इन दोनों सुखों को तराजू के पलडे में रख दिया जाय और दूसरे पलडे में इच्छा निरोध का सुख रक्खा जाय, तो यह दोनों सुख इच्छानिरोध के सुख

द्वारा उपदिष्ट हो और जो भावपूर्वक किया जाय। जो राग और द्वेष से अतीत हो चुके हैं वे वीतराग भगवान् जिस प्रत्याख्यान का उपदेश देते हैं, वह मोक्ष के लिए ही हो सकता है। वीतराग भगवान् द्वारा उपदिष्ट उस प्रत्याख्यान के आधार पर अनंत–जीव मोक्ष प्राप्त कर चुके हैं, करते हैं और करेंगे तथा शाश्वत सुख प्राप्त किया है, प्राप्त करते हैं और प्राप्त करेंगे।

इस प्रकार प्रत्याख्यान मोक्ष का एक अंग माना गया है और इससे स्पष्ट है कि आस्रवों का निरोध करने के साथ ही पूर्वकृत पापों को भी नष्ट करता है। इसके अतिरिक्त पूर्ण प्रत्याख्यान करने वाले को चारित्रशील कहा है और चारित्र का अर्थ पूर्वकृत कर्मो को नष्ट करना होता है। इस कथन से भी यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रत्याख्यान आस्रव द्वारों का निरोध करने के साथ ही पूर्वकृत कर्मो को भी नष्ट करता है।

प्रत्याख्यान से जीव को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है, प्रत्याख्यान से आस्रवद्वार बन्द होता है और इच्छा का निरोध होता है। इच्छा का निरोध प्रत्याख्यान करने से होता है, अतः राग–द्वेष भी नहीं होता। प्रत्याख्यान से किस प्रकार इच्छा का निरोध होता है यह बात एक उदाहरण से समझाई जाती है।

कल्पना कीजिए, किसी मनुष्य ने आम खाने का प्रत्याख्यान किया। आम खाने का त्याग करने के पश्चात् जगत् में आम है या नहीं, इस वर्ष आम की फसल कैसी आई है, आम किस भाव बिकते हैं, ऐसी बातों का वह कोई विचार तक नहीं करता। आम खाने का त्याग करने वाला आम के भाव–ताव की चिन्ता क्यों करेगा? आम के प्रति उसकी कोई रुचि या इच्छा ही नहीं होती। इस प्रकार प्रत्याख्यान करने वाले की इच्छा का निरोध हो जाता है। संसार के सारे कांटे बीने नहीं जा सकते, परन्तु पैर में मजबूत जूता पहनने वाले के लिए तो मानो जगत् में कांटे रहते ही नही ! इसी प्रकार संसार के समस्त पदार्थ नष्ट नहीं हो सकते, लेकिन प्रत्याख्यान करने वाले की इच्छा, प्रत्याख्यान की हुई वस्तु की ओर जाती ही नहीं है। इस प्रकार प्रत्याख्यान द्वारा इच्छा का निरोध होता है।

कितनेक लोगो का कहना है कि प्रत्याख्यान में क्या रखा है। किन्तु प्रत्याख्यान में कुछ रखा है, या नही, यह बात गाधीजी से पूछो तो मालूम हो जायेगी। गांधीजी ने प्रत्याख्यान न किया होता तो वे महात्मा बन सकते या नही, यह एक प्रश्न है। प्रत्याख्यान लेने के कारण ही वह बीमारी के अवसर पर भी मांस–मदिरा वगैरह के पाप से बच सके थे।

लोक संबंधी और परलोक संबंधी सन्तापों से छुटकारा मिलता है। इस सन्ताप से बचने के लिए और सुखी बनने के लिए प्रत्याख्यान करना आवश्यक है। प्रत्याख्यान न करने से किस प्रकार का कष्ट होता है और परस्त्री का प्रत्याख्यान न करने से स्थिति कैसी बेढ़ंगी बन जाती है, इसके लिए नाथद्वारा के महंत का उदाहरण सामने ही है। प्रत्याख्यान न करने से इस लोक के व्यवहार की भी हानि होती है और परलोक की भी हानि होती है। अतएव अगर सुखी बनना है और प्रत्येक प्रकार के सन्ताप से बचना है तो प्रत्याख्यान करो। प्रत्याख्यान से आत्मा पाप से बच जायेगा और सुख–शान्ति का लाभ भी प्राप्त करेगा।

महिलाओं को स्वावलम्बी बनाने हेतु संस्था द्वारा सिलाई, बुनाई, कढाई प्रशिक्षण केन्द्र का संचालन किया जाता है, जिसमें योग्य अध्यापिकाओं द्वारा महिलाओं व छात्राओं को सिलाई, बुनाई, कढ़ाई व पेन्टिंग कार्य का प्रशिक्षण दिया जाता है। इससे वे अपने गृहस्थी के कार्यों में योगदान दे सकती हैं और आवश्यकता पड़ने पर इस कार्य के सहारे जीवन में स्वावलम्बी भी बन सकती हैं।

संस्था के संस्थापक स्वर्गीय सेठ श्री चम्पालाल जी बांठिया की जन्म जयन्ती पर प्रत्येक वर्ष उनकी स्मृति में एक व्याख्यानमाला का आयोजन किया जाता है जिसमें उच्च कोटि के विद्वानों को बुलाकर प्रत्येक वर्ष अलग–अलग धार्मिक, सामाजिक विषयों पर प्रवचन आयोजित किए जाते हैं।

उपरोक्त के अलावा प्रदीप कुमार जी रामपुरिया स्मृति पुरस्कार के अन्तर्गत भी प्रतिवर्ष स्नातकस्तरीय कला, विज्ञान एवं वाणिज्य संकाय में बीकानेर विश्वविद्यालय में प्रथम व द्वितीय स्थान प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों को नकद राशि, प्रशस्ति–पत्र एवं प्रतीक–चिन्ह देकर सम्मानित किया जाता है एवं स्नातकोत्तर शिक्षा में बीकानेर विश्वविद्यालय में सर्वाधिक अंक प्राप्त करने वाले एक विद्यार्थी को विशेष योग्यता पुरस्कार के रूप में प्रशस्ति–पत्र एवं प्रतीक–चिन्ह देकर सम्मानित किया जाता है।

विद्यापीठ द्वारा ठण्ड़े, मीठे जल की प्याऊ का संचालन किया जाता है। जनसाधारण के लिए इसकी उपयोगिता स्वयं–सिद्ध है। इस प्रकार अपने बहुआयामी कार्यों से श्री जवाहर विद्यापीठ निरन्तर प्रगति–पथ पर अग्रसर है।

करने में और कोल्हू का धन्धा करने में बहुत अन्तर है। भगवान् ने कोल्हू के धन्धे को ही कर्मादान में बताया है।

12 **निल्लंछणकम्मे**, यानी पशुओ को खसी (नपुंसक) करके आजीविका करना। श्रावक के लिए ऐसा व्यवसाय त्याज्य है। इस व्यवसाय से पशुओं को घोर दु:ख भी होता है और उनकी नस्ल भी खराब होती है।

13 **दवग्गि दावणिया कम्मे**, यानी वन दहन करना। भूमि साफ करने मे श्रम न करना पड़े, इसलिए बहुत से लोग आग लगा कर भूमि के ऊपर का जंगल जला देते है और इस प्रकार भूमि साफ करते या कराते हैं तथा इस प्रकार आजीविका करते है। लेकिन इस कार्य से बहुत जीवों की हिंसा होती है, इसलिए श्रावक के लिए यह व्यवसाय त्याज्य है।

14 **सरदहतलाय–सोसणिया कम्मे**, यानि तालाब–नदी आदि के जल को सुखाना। कई लोग तालाब–नदी आदि का पानी सुखा कर वहां की भूमि को कृषि योग्य बनाने का धन्धा किया करते हैं। इस धन्धे के कारण जल मे रहने वाले जीव मर जाते है, इसलिए श्रावक के लिए ऐसा धन्धा त्याज्य है।

15 **असईजण पोसणिया कम्मे**, यानी असतियों का पोषण करके उनके द्वारा आजीविका चलाना। कई लोग कुलटा स्त्रियों का इसलिए पोषण करते है कि उनसे व्यभिचार कराकर द्रव्य प्राप्त किया जा जाये। यह धन्धा महान् पापपूर्ण एवं निन्द्य है, इसलिए श्रावकों के लिए सर्वथा त्याज्य है।

ऊपर बताये गये दस कर्म और पांच वाणिज्य, ये पन्द्रह कर्मादान हैं। श्रावक के लिए ये पन्द्रह कर्मादान सर्वथा त्याज्य हैं। कोई कह सकता है कि संसार मे ऊपर बताये गये व्यवसाय तो होते ही हैं, और यदि श्रावक न करें तब भी ये व्यवसाय होगे ही, फिर श्रावकों को इन व्यवसायों द्वारा होने वाले लाभ से क्यों वंचित रखा जाता है? बल्कि यदि ये कार्य श्रावक करेंगे तो अन्य लोगो की अपेक्षा कुछ तो पाप टालेगे ही? इसका उत्तर यह है कि वैसे तो संसार मे सभी पाप होते है, लेकिन इस कारण यह युक्तिसंगत नही हो सकता, कि श्रावको के न करने पर भी वे पाप होगे ही, इसलिए श्रावको को उन कामो के लाभ से क्यो वंचित रखा जाये? संसार में पाप होते है, इसी कारण श्रावकों को पाप से बचने का उपदेश दिया जाता है। श्रावकों के न करने पर भी पापपूर्ण कार्य तो होते ही है, इस बात को दृष्टि में रखकर यह विधान नहीं किया जा सकता कि पाप करना चाहिए। कोई पापपूर्ण कार्य संसार मे चाहे

अनर्थदण्ड विरमण व्रत

श्रावक के बारह व्रतों में से आठवें, और तीन गुण व्रतों में से तीसरे व्रत का नाम "अनर्थदण्ड विरमण व्रत" है। अनर्थदण्ड किसे कहते हैं, यह बताने के लिए टीकाकार कहते हैं:—

अर्थः प्रयोजनम्, गृहस्थस्य क्षेत्रवास्तु धनधान्य शरीर—परिपालनादि विषयं, तदर्थे आरम्भो भूतोपमर्दोऽर्थ—दण्डः।

दण्डो—निग्रहो यातना विनाश इति पर्यायाः, अर्थेन प्रयोजनेन दण्डोऽर्थ दण्डः। स चैवंभूत उपमर्दनरलक्षण दण्डः क्षेत्रादि प्रयोजन मपेक्षमाणोऽर्थ दण्ड उच्यते। तद्विपरीतोऽनर्थ दण्डः।

अर्थात्—अर्थ यानी प्रयोजन। गृहस्थ को खेत, घर, धन, धान्य या शरीर पालन आदि कामों के लिए आरम्भ द्वारा भूतोपमर्दन करना पड़ता है, वह भूतोपमर्दन अर्थ दण्ड है। दण्ड, निग्रह, यातना और विनाश ये चार पर्याय हैं। किसी कार्य से, यानि प्रयोजन से दिया गया दण्ड अर्थ—वाची शब्द दण्ड है और दण्ड का लक्षण है भूतों का उपमर्दन। यानि खेत, घर आदि के सिलसिले मे भूतो (जीवों) का उपमर्दन अर्थ दण्ड है। और इसके विपरीत अर्थात् बिना किसी प्रयोजन के निष्कारण ही भूतों का उपमर्दन करना अनर्थ दण्ड है।

टीकाकार ने यहां स्पष्ट कर दिया है, कि अर्थदण्ड किसे कहते हैं? और अनर्थ दण्ड किसे कहते हैं? किसी आवश्यक कार्य के आरम्भ—समारम्भ मे त्रस जीवों और स्थावर जीवों को जो कष्ट होता है वह अर्थदण्ड है। और निष्प्रयोजन ही बिना किसी कार्य के केवल हास्य, कौतूहल, अविवेक या प्रमादवश जीवों को कष्ट देना अनर्थदण्ड है। जैसे कोई आदमी हाथ में कुल्हाडी लिये जा रहा है उसने चलते—चलते निष्कारण ही किसी वृक्ष पर कुल्हाडी मार दी। अथवा कोई आदमी हाथ में कुदाली लिए जा रहा है उसने व्यर्थ ही जमीन पर कुदाली मार दी। इसी तरह किसी के हाथ में लकडी होने

के गुलाम न रह कर उन कामों को त्यागना ही चाहिए, जो अनुचित हानिप्रद अथवा निरर्थक है। ऐसा करने पर श्रावक हानि से भी बच सकता है, व्यर्थ के कर्मबन्ध से भी बच सकता है, चित्त को समाधि–भाव में भी रख सकता है, और मूल व्रतों का पूरी तरह पालन करने में भी समर्थ हो सकता है।

जिस व्यक्ति ने पूर्ण त्यागवृत्ति धारण नही की है, उस व्यक्ति को जीवन–निर्वाह के लिए अथवा गृहकार्य चलाने के लिए अर्थ–दण्ड का पाप करना ही पडता है। यह पाप आलस्य मे पड़े रहने, उद्योग त्याग देने अथवा अकर्मण्य बन बैठने से नही छूटता, किन्तु तभी छूटता है जब पूर्णतया त्यागवृत्ति धारण की जाये। लेकिन जब तक पूर्ण त्यागवृत्ति स्वीकार नहीं की है, तब तक अपूर्णावस्था मे अल्प पाप और महापाप का विवेक करके महापाप से तो बचना चाहिए। यह व्रत विशेषतः इसी बात की प्रतिज्ञा कराता है कि मै प्रत्येक कार्य के सबंध मे विवेक करूगा और अनर्थदण्ड से बचूंगा। इस व्रत का उद्देश्य प्रत्येक कार्य के विषय में विवेक करके अनर्थदण्ड से बचना और व्यर्थ के पाप से आत्मा को बचाये रखना है।

अर्थ–दण्ड और अनर्थ–दण्ड की व्याख्या कुछ विचित्र सी है। जो कार्य एक व्यक्ति के लिए अर्थदंड है वही कार्य दूसरे व्यक्ति के लिए अनर्थ–दण्ड हो सकता है। इसलिए इस विषय का कोई निर्णय नहीं दिया जा सकता, कि कौनसा कार्य साधारणतया अर्थदण्ड है, और कौनसा अनर्थ–दण्ड है? क्योकि प्रत्येक मनुष्य की परिस्थिति एकसी नहीं होती, पृथक–पृथक होती है। इसका निर्णय प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही अपने विवेक की सहायता से कर सकता है।

शास्त्रकारों ने अनर्थदण्ड के प्रधानतः चार भेद किये हैं। वे कहते हैं–

अणट्ठादण्डे चउविहे पण्णत्ते तंजहा, अवज्झाणा चरिए, पमाया चरिए हिंसप्पयाणे, पावकम्मोवएसे।

अर्थात्–अनर्थ दण्ड चार प्रकार का होता है, अपध्याना चरित, प्रमादा चरित, हिंसा मे सहायक होना और पाप कर्म का उपदेश देना।

1 अपध्यान

अपध्यान किसे कहते है, इसके लिए कहा है–अप्रशस्तं ध्यान–मपध्यानम्। अर्थात्–जो ध्यान अप्रशस्त यानी बुरा है वह अपध्यान कहलाता है।

ध्यान का अर्थ है अन्तर्मुहूर्त्त मात्र किसी प्रकार के विचारो में चित्त की एकाग्रता होना। निरर्थक बुरे विचारो मे चित्त को एकाग्र करने से जो

अपध्यान का दूसरा भेद रौद्रध्यान है। स्वार्थ, क्रोध, मोह, लोभ, भय आदि के वश होकर दूसरे की हानि के लिए उत्पन्न विचारों में मन का एकाग्र होना रौद्रध्यान है। रौद्र का अर्थ है–भयंकर। जो दूसरे के लिए भयंकर है ऐसे विचार में एकाग्र होना रौद्रध्यान है।

शास्त्रकारो ने रौद्रध्यान के भी "हिंसानुबन्धी, मोसानुबन्धी, तेणाणुबन्धी और सारक्खणाणुबन्धी" ये चार भेद किये हैं। अपने या दूसरे के द्वारा मारे, कूटे, बांधे या दूसरी तरह से कष्ट पाते हुए व्यक्ति को देख कर या उसका करुण अथवा आर्त्तनाद सुनकर प्रसन्न होना, अथवा अमुक प्राणी को किस तरह मारना, बांधना या यह काम किसके द्वारा कराना चाहिए? यह काम करने में कौन चतुर है? इस काम को कौन शीघ्र कर सकता है? आदि विषयक भयकर विचारो मे मन को लगाना हिंसानुबन्धी नामक रौद्रध्यान का पहला भेद है।

रौद्रध्यान का दूसरा भेद मोसाणुबन्धी यानी मृषानुबन्धी है। झूठ को सफल बनाने, सच्ची बात को झूठी और झूठी को सच्ची ठहराने के उपाय विचारने मे, अपना स्वार्थ साधने, लोगों की भावुकता या उदारता का अनुचित लाभ उठाने के लिए और लोगों को अपने प्रभाव में लाने के लिये कोई झूठ प्रपंच रचने, झूठे शास्त्र आदि बनाने का उपाय सोचने में मन को एकाग्र करना मृषानुबन्धी रौद्रध्यान है।

चोरी, डकैती अथवा ऐसे ही दूसरे कार्य के लिए, परधन, परदारा आदि का हरण करने के विचार में तल्लीन होना, उपाय सोचना, ऐसे कार्यो मे हर्ष मानना, स्तेनानुबन्धी रौद्रध्यान है।

अपने को जो वस्तु प्राप्त है उसकी रक्षा के लिए स्त्री, भूमि, धन या सुख के अन्य साधनों को दूसरे से बचाने के लिए, कोई उन्हें छीन न सके या उनमे भाग न बंटा सके, इस संबंधी अपना मार्ग निष्कण्टक करने के लिए और ऐसी सामग्री पर अपना अधिकार बनाये रखने के लिए क्रूर विचारों में मन का एकाग्र होना संरक्षणानुबन्धी नाम का रौद्रध्यान है।

2 प्रमादाचरित

अनर्थदण्ड का दूसरा भेद प्रमादाचरित है। शास्त्रकारो ने प्रमाद के पाच भेद किये है। आत्मा संसार में क्यो भटकता है? यह बताते हुए शास्त्रकार कहते है–

मज्जं विसय कसाया, निद्दा विकहा य पंचमी भणिया।
एए पंच पमाया, जीवं पाडंति संसारे।।
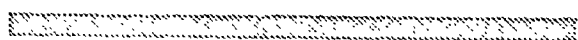
हुआ न होने पर भी अनभिज्ञ है, उसको शस्त्र, विष, अग्नि आदि देना अपराध माना गया है।

4 पापोपदेश

अनर्थ दण्ड का चौथा भेद 'पावकम्मोवएसे' यानि पापकर्म का उपदेश देना है। जिस उपदेश के कारण पापकर्म में प्रवृत्ति हो, उपदेश सुनने वाला पाप कर्म करने लगे, वैसा उपदेश देना अनर्थ दण्ड है।

बहुत लोगों की यह आदत होती है कि वे दूसरे को पापकर्म करने के लिए उपदेश देते रहते है। बकरा मारो, पशु बलि करो, चोरी करो, राज्य द्रोह करो या राष्ट्रोत्थान में बाधक बनो आदि उपदेश देना अनर्थदण्ड का चौथा भेद है।

अनर्थदण्ड के जो चार भेद बताये गये है,उन चारों को समझ कर श्रावक के लिए अनर्थदण्ड का सर्वथा त्याग करना ही उचित है। इसके लिए आत्मा को सावधान रखने, एवं प्रत्येक कार्य के विषय में विवेक यानि विचार करने की आवश्यकता है। जो प्रत्येक कार्य के विषय में अर्थ–अनर्थ का विवेक करता है और निरर्थक कार्यों से बचता है, वही अनर्थदण्ड के पाप से बचा रह सकता है। अनर्थदण्ड द्रव्य से तो प्राण, भूत, जीव, सत्त्व का विनाश करता है और भाव से आत्मा की हानि करता है। व्यवहार में दूसरे जीवों को कष्ट पहुंचाना या दूसरे जीवों का कष्ट पहुंचाने का विचार करना, निश्चित रूप से अपने आत्मा की ही हिंसा है। इसलिये श्रावकों को अनर्थदण्ड का त्याग करना चाहिए।

कहा जा सकता है कि दण्ड तो सर्वथा त्याज्य होना चाहिए, फिर अर्थदण्ड और अनर्थदण्ड ये भेद करके अनर्थदण्ड ही त्यागने का क्यों कहा गया? दण्ड मात्र त्यागने को क्यों नहीं कहा गया? इस कथन का उत्तर यह है कि वास्तव मे है तो दण्ड मात्र त्याज्य, लेकिन गृहस्थों के लिए दण्ड का सर्वथा त्याग सम्भव नहीं, इसलिए गृहस्थों के वास्ते दण्ड के दो भेद किये गये है। और कहा गया है कि गृहस्थ अनर्थदण्ड का त्याग करे। गृहस्थ अर्थदण्ड का त्याग नही कर सकता। वह जितना हो सके उतना अर्थ दण्ड से बच तो अवश्य सकता है, लेकिन अनर्थदण्ड की तरह अर्थ दण्ड का भी सर्वथा त्याग करना उसके लिए सम्भव नही हो सकता।

यदि कोई गृहस्थ अर्थदण्ड का सर्वथा त्याग करेगा, तो बहुत सम्भव है कि वह अर्थदण्ड के बदले अनर्थदण्ड का पाप करने में पड जाएगा।

अनर्थ–दण्ड विरमण व्रत के अतिचार

शास्त्रकारो ने अनर्थदण्ड–विरमण–व्रत के पांच अतिचार बताये हैं। यथा –

अणट्ठादण्ड वेरमणस्स समणोवासगेणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा–कंदप्पे, कुक्कुइए, मोहरिए, संजुत्ताहिगरणे, उवभोगपरिभोगाइरित्ते।

अर्थात्–अनर्थदण्ड–विरमण–व्रत के पांच अतिचार हैं जो जानने योग्य है परन्तु आचरण करने योग्य नहीं है। वे पांच अतिचार इस प्रकार है–कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, सयुक्ताधिकरण, उपभोग परिभोगातिरिक्त।

1 पहला अतिचार कन्दर्प है। कामवासना प्रबल करने वाले और मोह उत्पन्न करने वाले शब्दो का हास्य या व्यग में दूसरे के लिए उपयोग करना कन्दर्प नाम का पहला अतिचार है। (सरल चित्त से हास्योत्पादक शब्दों का प्रयोग अतिचार मे नही है।)

2 दूसरा अतिचार कौत्कुच्य है। ऑख, नाक, मुंह, भृकुटि आदि अपने अगो को विकृत बनाकर भॉड या विदूषक की तरह लोगों को हंसाना कौत्कुच्य नाम का दूसरा अतिचार है। सभ्य लोगो के लिए ऐसा करना प्रतिष्ठा की दृष्टि से भी अनुचित है क्योकि ये कार्य प्रतिष्ठा का नाश करने वाले होते है।

3 तीसरा अतिचार मौखर्य है। निष्कारण ही अधिक बोलना, निष्प्रयोजन और अनर्गल बातें कहना, थोडी बात से काम चल सकने पर भी अधिक बात बोलना मौखर्य नाम का तीसरा अतिचार है।

4 चौथा अतिचार संयुक्ताधिकरण है। कूटने, पीसने और गृह कार्य के दूसरे साधन–जैसे ऊखल, मूसल, चक्की, झाड़ू, सूप, सिला, लोढी आदि

चार शिक्षा व्रत

शिक्षा व्रत

वृक्ष जब हरा–भरा, सघन छाया युक्त होता है और उस पर फल–फूल होते हैं, तब वह बडा ही मनोहर, रम्य तथा सुन्दर दिखाई देता है एव देखने वाले को आह्लादित करता है। किन्तु वृक्ष के ऐसा होने का कारण मूल का हरा–भरा होना ही है। वृक्ष के मूल का जब तक सिंचन होता रहता है और उसको पोषक द्रव्य की प्राप्ति होती रहती है, तभी तक वृक्ष की मनोहरता और रम्यता बनी रहती है।

जिस प्रकार वृक्ष की मनोहरता और रम्यता का कारण उसका मूल है, उसी प्रकार आत्मा को परम सुख एवं मोक्ष की प्राप्ति का कारण सम्यक्ज्ञान, दर्शन तथा चारित्रयुक्त त्यागमय जीवन है। ऐसा जीवन दो तरह का होता है। एक है साधुतापूर्ण जीवन और दूसरा है श्रावकत्व–पूर्ण जीवन। जिनका जीवन साधुता–पूर्ण है, उनके लिए तो सांसारिक–बन्धनों के सभी तन्तु टूट जाते है और उनका प्रयत्न मोक्ष प्राप्त करने का ही रहता है। किन्तु गृहस्थ–श्रावक के सामने अनेक सासारिक झंझटें एवं अनुकूल–प्रतिकूल आकर्षण रहते है तथा उन्हे कौटुम्बिक और जीवनयापन संबंधी बाधाएं भी घेरे रहती है। इन सब के होने पर भी श्रावक के लिए आत्म–कल्याण के हेतु श्रावकत्व–पूर्ण जीवन बिताना आवश्यक है। इस बात को दृष्टि में रख कर ही शास्त्रकारो ने श्रावको के लिए पाच मूल व्रतों की रक्षा के उद्देश्य से, मूल व्रत को सिचन देने वाले तीन गुण व्रतों और चार शिक्षा व्रतो का विधान किया है। जिस प्रकार मूल को सिचन मिलता रहने पर ही वृक्ष हरा–भरा रहता है उसी प्रकार श्रावक के पाच मूल व्रत भी तभी विशुद्ध रहेगे जब उन्हें गुण व्रतो और शिक्षा व्रतो द्वारा सिंचन मिलता रहेगा। अर्थात् इन की पालना होती रहेगी।

श्रावक जिस उच्च स्थिति पर पहुचना चाहता है, और पूर्ण विरक्ति का इच्छुक है, वह पौषधोपवास द्वारा उस स्थिति पर पहुंचने तथा विरक्त दशा प्राप्त करने का अभ्यास करता है और अपने जीवन को उच्चता की ओर ले जाता है, अर्थात् आत्मज्योति जगाता है।

ऊपर कहे गये तीनो व्रत अपनी आत्मा को उन्नत बनाने के लिए अभ्यास रूप है, लेकिन चौथा अतिथि संविभाग व्रत जैनधर्म की विशालता और विश्व–बन्धुत्व की भावना का परिचय देता है। इस व्रत का विशेष सम्बन्ध बाह्य जगत् से है। इस व्रत का प्रचलित नाम 'अतिथि संविभाग' है, लेकिन शास्त्रो मे इस व्रत का नाम 'अहा सविभाग' बताया गया है। इस नाम का यह भाव भी है कि अपने खान–पान के पदार्थो के प्रति ममत्व या गृद्धि भाव न रख कर उनका भी विभाग करना और साधु आदि को देने की भावना रखना। यद्यपि इस व्रत के पाठ मे मुख्यता साधु की ही है, लेकिन आशय बहुत ही गहन है, लक्ष्यार्थ बहुत विशाल है। इस प्रकार यह व्रत श्रावक की उदारता और विशाल–भावना का बाह्य जगत् को परिचय देता है।

साराश यह है कि ये चारो शिक्षा व्रत श्रावक के जीवन को पवित्र, उन्नत तथा आदर्श बनाते है। साथ ही श्रावक को उपस्थित सांसारिक प्रसंगों मे न फसने देकर ससार–व्यवहार के प्रति जल कमलवत् बनाये रखते है। इसलिए इन व्रतो का जितना भी अधिक आचरण किया जाये, उतना ही अधिक लाभ है।
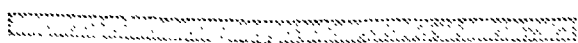
वाले लोगों में से अनेक लोग, सामायिक के मूल उद्देश्य के विरुद्ध, सामायिक दशा में होने पर भी, ऐसे–ऐसे काम कर डालते हैं, जिनका करना उस समय सर्वथा अनुचित है। उस समय सामायिक ग्रहण किये हुए व्यक्ति को एकान्त में बैठ कर परमात्मा का भजन–स्मरण या ध्यान–चिंतन करना चाहिए। परन्तु कई लोग आत्म शुद्धि के लिए ऐसे कार्य करने के बदले सामायिक लेकर बैठे होने पर भी ऐसी बातें या ऐसे कार्य करते हैं, जिनके कारण समीप बैठे हुए अन्य सामायिक व्रतधारी लोगों के चित्त की भी सकाग्रता नष्ट होती है तथा उनका चित्त भी उन बातो या कार्यो की ओर खिंच जाता है। जहां धर्म–कार्य के लिये अनेक लोग एकत्रित होते हैं, ऐसे पौषधशाला आदि स्थानों पर तो सामायिक करने वालों का चित्त विशेष एकाग्र रहना चाहिए, चित्त में स्थिरता होनी चाहिए, किन्तु सामायिक का उद्देश्य एवं सामायिक की विधि न जानने वाले लोगों के कारण ऐसे धर्म स्थानों का भी वातावरण दूषित हो जाता है और कभी–कभी तो किसी एक के कुछ कहने पर दूसरा कुछ तथा तीसरा कुछ ओर भी कहता है और होते–होते वह धर्म–स्थान कलह–स्थान बन जाता है।

तात्पर्य यह है कि सामायिक विषयक श्रेष्ठतम आदर्श और सरल साहित्य के अभाव के कारण तथा सामायिक में की जाती हुई विकृतियों को देखकर वर्त्तमान युवकों की रुचि और श्रद्धा सामायिक के प्रति कम होती देखी जाती है। इस बात को दृष्टि में रख कर ही सामायिक विषयक यह साहित्य जनता के सामने रखा जाता है।

अपूर्व ज्ञान, दर्शन, चारित्र की पर्याय से जो भव–रूपी अटवी में भ्रमण करने के संकल्प को विच्छेद करके उस निरुपम परम सुख का कारण है, जिस परम सुख के लिए कोई उपमा ही नहीं है, तथा संसार में सुख के उत्कृष्ट साधन माने जाने वाले चिन्तामणि कामधेनु और कल्प वृक्ष को भी जो परम तुच्छ बना देता है, उसको 'सम' कहते हैं। ऐसे समत्व का आय (समत्व का लाभ) 'समाय' कहलाता है। इस समाय में जिस क्रिया के द्वारा प्रवृत्ति की जाती है, उसी क्रिया को सामायिक कहते है।

टीकाकार के इस कथन से स्पष्ट है कि सामायिक शब्द 'सम' और 'आय' इन दो शब्दो के सयोग से 'क' प्रत्यय लगकर बना है। सम+आय समाय का मतलब है समभाव की प्राप्ति। इस प्रकार जिस क्रिया के द्वारा समभाव की प्राप्ति होती है और राग–द्वेष कम पडता है, विषय–कषाय की आग शांत होकर चित्त स्थिर होता है तथा सांसारिक प्रपंचों की ओर आकर्षित न होकर आत्मभाव में रमण किया जाता है, उस क्रिया को शास्त्रकार 'सामायिक' कहते हैं।

वस्त्र उतार कर और आसन बिछा कर बैठ जाना और मुखवस्त्रिका मुख पर बांध रजोहरण, पूँजनी, माला आदि धारण कर लेना, सामायिक के अनुरूप साधन अवश्य हैं, लेकिन इन साधनों को लेकर बैठ जाना ही सामायिक नहीं है। सामायिक तो तब है जब उक्त साधनों से युक्त होकर त्याज्य कार्यो को त्याग दिया जावे और चित्त को शान्त तथा एकाग्र करके प्रशस्त विचार किया जावे। यानि आत्मा अनात्मा अथवा जीव और पुद्गल के स्वरूप का विचार किया जावे, या पदस्थ, पिंडस्थ आदि चार प्रकार के ध्यान मे आत्मा को लगा दिया जावे। पदस्थ, पिंडस्थ आदि ध्यान आत्मा का सच्चा स्वरूप प्रकट करते हैं और आत्मा को समभाव में स्थापित करते हैं। इसलिए सामायिक में किये जाने वाले चारों प्रकार के ध्यानों का रूप, एक कवि के कथनानुसार संक्षेप मे बताया जाता है–

अक्षर पद को अर्थ रूप ले ध्यान में
जे ध्यावें इम मन्त्र रूप इक तान में।
ध्यान पदस्थ जु नाम कह्यो मुनिराज ने,
जे यामे ह्वै लीन लहें निज काज ने।।

अर्थात्–पच परमेष्ठी के पैंतीस अक्षरो की भिन्न–भिन्न रूप मे विकल्प कर उनका ध्यान करना और पंच–परमेष्ठी मंत्र के पांचों पदों का भिन्न–भिन्न अर्थ विचार कर उस अर्थ मे लौ लगाना, अथवा पंच–परमेष्ठी मंत्र के स्वर

व्यंजन का वर्गीकरण करके अपने नाभि–मण्डल में मंत्र के पदों से कमल का रूप कल्पित कर एक पद को मध्य में रखकर शेष चार पदों को चारों दिशा में रखकर उस कमल में आत्मा को स्थित करना इत्यादि पदस्थ ध्यान है।

या पिण्डस्थ ध्यान के माँहि, देह विषे स्थित आतम ताहि।।
चिन्ते पंच धारणा धारि, निज आधीन चित्त को पारि।।

अर्थात् – इस देह में रहे हुए अखण्ड, अविनाशी, शाश्वत, अमूर्त्त और सिद्ध स्वरूपी आत्मा का पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल और तत्त्व रूपवती इन पांच तत्त्वों की कल्पना द्वारा ध्यान करना पिंडस्थ ध्यान है। पांच तत्त्वों की कल्पना में किस–किस प्रकार कल्पना की जाती है, यह संक्षेप में नीचे बताया जाता है।

पृथ्वी की कल्पना करने में द्वीप, समुद्र आदि का ध्यान करता हुआ स्वयंभू रमण समुद्र का ध्यान करके अपने को स्वयंभू रमण समुद्र जैसा शान्त तथा गम्भीर बनाकर, उस समुद्र में रहे हुए कमल का ध्यान करे और उस कमल के मध्य की कर्णिका पर आत्मा को स्थित करे।

अग्नि की कल्पना करने में यह माने कि पृथ्वी तत्त्व विषयक कमल की कर्णिका पर स्थित आत्मा कर्म–मल को पवित्र भावना रूपी अग्नि से भस्म करने में समर्थ है।

वायु की कल्पना में यह माने कि पवित्र भावना रूपी अग्नि द्वारा जलाए गए कर्म–मल की भस्मराशि उड़ जाने पर आत्मा निर्मल और शुद्ध होता है।

जल के विषय में जिस पर की भस्मराशि उड़ गई है, उस आत्म–तत्व को निर्मल रखने के लिए जलधार की कल्पना करे और उस जलधार से आत्मा पर लगे हुए भस्मकण धोकर आत्मा को शुद्ध करे।

तत्त्व रूपवती की कल्पना में निर्मल तथा ज्योतिर्मय आत्मा के स्वरूप का दर्शन करे।

यह पिण्डस्थ ध्यान की बात हुई। आगे रूपस्थ ध्यान के विषय में कवि कहता है–

सर्व विभव युत जान, जे ध्यावे अरिहन्त को।
मन वसि करि सति मान, ते पावें तिस भाव को।।

अर्थात् – ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय के धारक, अष्ट महा प्रातिहार्य, चौंतीस अतिशय और वाणी के पैंतीस गुण–युक्त, इन्द्र तथा देवों के पूजनीय, ज्ञानवरणीय आदि घाती कर्म के नाशक, अनन्त केवलज्ञान रूप लक्ष्मी से युक्त,

सामायिक का उद्देश्य

सामायिक क्यों करनी चाहिये? सामायिक का उद्देश्य क्या है? इसके लिये कहा गया है कि–

समभावो सामाइयं, तण कंचण सत्तुमित्त विउसउत्ति।
णिरमिस्संगं चित्तं, उचिय पवित्ति पहाणाणं।।1।।

इस गाथा में कहा है कि समभाव की प्राप्ति अर्थात् तृण और कंचन, शत्रु और मित्र पर राग–द्वेष रहित बनकर समभाव को प्राप्त करना ही सामायिक का उद्देश्य है । किन्तु इस तरह का समभाव पूर्णतया तो तभी प्राप्त होता है जब रागद्वेष का सर्वथा नाश हो जावे । और रागद्वेष का पूर्णतया नाश तब प्राप्त होता है जब वीतराग दशा प्रकट हो। जब तक रागद्वेष सर्वथा नष्ट नहीं हो जाता तब तक वीतराग दशा प्रकट नहीं हो सकती । और जब तक वीतराग दशा प्रकट नहीं होती है तब तक रागद्वेष का सर्वथा नाश भी नहीं होता है, न पूर्ण समभाव की प्राप्ति ही होती है। वीतराग दशा प्रकट करने का मार्ग आत्मा को शुक्लध्यान मे लगाकर मोहकर्म की प्रकृतियों को उड़ाना और या बारहवें आदि गुणस्थान पर पहुँचाना है।

यह प्रश्न होता है कि जब तक इस स्थिति पर न पहुँचा जाय, तब तक क्या करना चाहिए? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए जैन सिद्धांत कहता है कि पूर्ण समभाव तो वीतराग दशा प्रकट होने पर ही होगा, अतः वीतरागावस्था को ध्येय बनाकर वह अवस्था प्राप्त करने के लिए क्रिया करते ही रहना चाहिए। क्रिया न करके केवल यह कह कर बैठे रहने से कि 'ज्ञानी महाराज ने ज्ञान मे जैसा देखा होगा वैसा होगा अथवा जब हमारी कषाय मन्द होकर चित्त शान्त होगा तब सामायिक करेंगे, तो कोई भी व्यक्ति उस अवस्था को प्राप्त नही कर सकता। इस तरह के कथन का अर्थ तो यही हुआ कि हमारे किये कुछ भी नही होता है। लेकिन ऐसा मान बैठना जैन सिद्धांत

सामायिक ग्रहण करने के पाठ से भी सामायिक की यही व्याख्या ध्वनित होती है। सामायिक ग्रहण करने के पाठ मे भी यह प्रतिज्ञा की जाती है कि–

करेमि भंते सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जाव नियमं पज्जुवासामि, दुविहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा, तस्स भंते ! पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

अर्थात्–सामायिक ग्रहण करने वाला कहता है हे भगवन्! मैं सामायिक व्रत ग्रहण करता हू और जितने समय के लिए मैं नियम करता हू, उतने समय के लिए सावद्य व्यापार (कार्य) का दो करण, तीन योग से त्याग करता हू। यानि मन, वचन, काय के योग से न तो मैं स्वयं ही सावद्य कार्य करूंगा, न दूसरे से ही कराऊॅगा। इतना ही नही, किन्तु सामायिक ग्रहण करने से पहले मैने जो सावद्य अनुष्ठान किये हैं, उन सबकी वचन से निन्दा करता हू, मन से घृणा करता हू और उन कषायादि दुष्प्रवृत्तियों से अपनी आत्मा को हटाता हू।

इस प्रकार सामायिक करने के लिए वे समस्त कार्य त्यागे जाते हैं जो सावद्य (पापयुक्त) हैं। जिनके करने से पाप का बन्ध होता है और आत्मा में पाप–कर्मो का स्रोत आता है।

शास्त्रकारों ने पाप की व्याख्या करते हुए अठारह कार्यो में पाप बताया है। उन अठारह में से किसी भी कार्य को करने पर कर्म का बन्ध होकर आत्मा भारी होती है । जो आत्मा कर्म के बोझ से भारी है वह समभाव को प्राप्त नहीं कर सकती। जिन कार्यो से कर्म का बन्ध होकर आत्मा भारी होती है, थोड़े में उन पाप कार्यो का भी वर्णन किया जाता है।

1 प्राणातिपात यानि जीवहिंसा – इस सम्बन्ध में प्रश्न होता है कि जीव तो शाश्वत है। जीव का अजीव न तो कभी हुआ है, न होता ही है और न होगा ही। फिर हिंसा किसकी होती है ? और पाप क्यों लगता है ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि जीव का नाश तो कभी नहीं होता, परन्तु जीव ने अपना जीवत्व व्यक्त करने के लिए सामग्री एकत्रित की है, और जीव की जिस सामग्री को प्राण कहा जाता है, उस सामग्री–प्राणों को नष्ट करना या आघात पहुचाना ही हिसा है। इसके लिए कहा है कि–

प्रमत्तयोगात् प्राणव्ययपरोपणं हिंसा

18 मिथ्यादर्शन शल्य –तत्त्व में अतत्त्व–बुद्धि और अतत्त्व मे तत्त्व–बुद्धि रखना, देव को कुदेव और कुदेव को देव, गुरु को कुगुरु और कुगुरु को गुरु, धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म मानना या ऐसी बुद्धि रखना 'मिथ्यादर्शन शल्य' रूप विपरीत मान्यता का पाप है।

ये अठारह ही पाप स्थूल रूप है। सूक्ष्म रूप में तो बहुत गहन है। सामायिक ग्रहण करने के समय इन अठारह ही पापों का त्याग किया जाता है।

सामायिक दो तरह की होती है, एक देश सामायिक, दूसरी सर्व सामायिक। देश सामायिक ग्रहण करने वाला श्रावक अपने अवकाशानुसार समय के लिए उसी पाठ से सामायिक ग्रहण करता है, जो पाठ ऊपर कहा गया है। सर्व सामायिक केवल वे ही लोग ग्रहण करते हैं या कर सकते हैं, जिन्हे सासारिक विषयो से घृणा हो गई है। चक्रवर्ती को प्राप्त होने वाले सुख के साधन तथा भोग्य पदार्थ भी जिन्हे नहीं ललचा सकते हैं, दुःख के पहाड़ भी जिन्हे क्षुब्ध नही कर सकते है और जो पौद्गलिक पदार्थ से सर्वथा निर्मम हो गये है। यद्यपि इस विषय में भी चार भंग है। यद्यपि कई लोग सर्व सामायिक ग्रहण करने के समय इस स्थिति पर पहुंचे हुए भी नहीं होते हैं, किन्तु दुःख अथवा किसी प्रलोभन के कारण उत्पन्न वैराग्य से सर्व विरति सामायिक स्वीकार कर लेते है और फिर ज्ञान होने पर उक्त स्थिति पर पहुंच जाते है। इसलिए यही कहा जा सकता है कि सर्व सामायिक वे ही लोग ग्रहण करने के योग्य है जिनमे उक्त योग्यता विद्यमान हो या होने की सम्भावना हो। सर्व सामायिक वही ग्रहण करता है और सर्व सामायिक ग्रहण करने का पाठ भी वह पढता है जो गृहस्थावस्था त्याग कर दीक्षा ग्रहण करता हो। सर्व सामायिक ग्रहण करने वाला अठारह पापो का यावज्जीवन के लिए त्याग करता है और देश सामायिक ग्रहण करने वाला व्यक्ति अपनी सुविधानुसार एक, दो, चार, पाच या अधिक मुहूर्त के लिए। यह भेद काल की अपेक्षा से हुआ। भाव की अपेक्षा सर्व सामायिक ग्रहण करने वाला व्यक्ति अठारह पापो का तीन योग से त्याग करता है और देश सामायिक ग्रहण करने वाला दो करण तीन करण तीन योग से त्याग करता है। गृहस्थ श्रावक गृहस्थावस्था से पृथक् नही हो गया है, इस कारण उससे अनुमोदन का पाप नही छूट सकता। इसलिए वह दो करण और तीन योग से ही पाप का त्याग करता है। यानी वह प्रतिज्ञा करता है कि इतने समय के लिए मै मन, वचन और काय

इन्द्रियों और मन की चचलता एकदम से नही मिट सकती। इसके लिए अभ्यास की आवश्यकता है। जब इन्द्रियां अपने विषयों की ओर आकर्षित हों और अपने साथ मन को भी उस ओर घसीटने लगें, तब इन्द्रियों को रोकने के लिए ज्ञान–ध्यान आदि शुभ एवं प्रशस्त क्रिया का अवलम्बन लेना चाहिए। ऐसा करने पर इन्द्रियां विषयों की ओर जाने से रुक जायेंगी और मन भी रुक जावेगा। छद्मस्थ जीवों के मन–वचन के योग का निरोध स्थायी रूप से नहीं हो सकता। प्रज्ञापनादि सूत्रों मे भगवान महावीर ने मन–वचन के योग की स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तमुहूर्त्त की बताई है। छद्मस्थ जीवों के मन और वाणी के परमाणु अन्तमुहूर्त्त से अधिक समय तक एक स्थिति में नही रह सकते। वे तो पलटते ही रहते है। गीता में भी मन की दुर्दमता के विषय में कहा है–

चंचलं हि मनः कृष्ण! प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।

अर्थात्–हे कृष्ण ! मन बड़ा ही चंचल, प्रमथन स्वभाव वाला एवं दृढ़ है। इसलिए उसे वश में करना वैसा ही दुष्कर जान पड़ता है, जैसा दुष्कर वायु को वश में करना है।

अर्जुन के इस कथन के उत्तर में कृष्ण ने कहा–

असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते।।

अर्थात्–हे महाबाहु! निःसन्देह मन चंचल और दुर्निग्रह है। परन्तु हे कौन्तेय। अभ्यास और वैराग्य से उस को भी वश में किया जा सकता है।

सामायिक करना मन को वश में करने का अभ्यास है। इसलिए समभाव प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले को चाहिए कि वह मन को ऐसे प्रशस्त कामों में लगावे कि जिससे वह इन्द्रियों के साथ विषयों की ओर न दौडे और न इन्द्रियां ही विषय–लोलुप हों। इसके लिए सामायिक ग्रहण किए हुए व्यक्ति को निकम्मा न बैठना चाहिए, न सांसारिक प्रपंच की बातों मे ही लगना चाहिए। निकम्मा बैठना, इधर–उधर की सांसारिक प्रपंचपूर्ण अथवा विषय–विकार से भरी हुई और ऐसी बात करना जिनसे अपने या दूसरे के हृदय मे रागद्वेष बढे, सामायिक का उद्देश्य भूलना है। और जब उद्देश्य ही विस्मृत कर दिया जावेगा तब क्रिया सफल कैसे हो सकती है? इसलिए

4--चौथा साधन प्राप्त ज्ञान के बाह्य रूप से ही सन्तुष्ट न होकर उसके भीतरी तत्त्व की खोज करना 'अनुप्रेक्षा' है। यानि प्राप्त ज्ञान से मुझे क्या बोध लेना चाहिए? इस बात को दृष्टि मे रखकर प्राप्त ज्ञान के अन्तरतल तक पहुचने का प्रयत्न करना और अनुभव बढाना अनुप्रेक्षा है। बाह्य ज्ञान की अपेक्षा अनुभूत ज्ञान महानिर्जरा और समभाव को समीप करने वाला है। कहा है–

मन वच तन थिर ते हुए, जो सुख अनुभव माँय।
इन्द्र नरेन्द्र फणेन्द्र के, ता समान सुख नांय।।

(शान्ति प्रकाश)

5–धर्मकथा, उक्त चारो साधनो द्वारा आत्मा जो अनुभव प्राप्त करती है, उस अनुभव का दूसरे को लाभ देना, लोगो को हिताहित का बोध करा कर धर्म के सम्मुख करना और पतित होने से बचाना धर्मकथा है।

उक्त पाचो साधन इन्द्रिय और मन का निग्रह करके समाधि भाव मे आने के लिए प्रशस्त है। सामायिक ग्रहण किये हुए व्यक्ति को इन्हीं साधनो का सहारा लेना चाहिए, जिससे सामायिक ग्रहण करने का उद्देश्य, आत्मा को पूर्ण समाधि भाव मे स्थित करना सफल हो।

के साधन ही एकत्रित करता है । वैसे ही वैसे उन साधनो के साथ लगी हुई चिन्ता से घिर कर अधिक दु खी होता जाता है। सामायिक ऐसे दु:ख से छूटने के लिए ही की जाती है। वास्तव मे पौद्गलिक साधनो मे सुख होता तो छः खण्ड पृथ्वी के स्वामी चक्रवर्तियो को ऐसे साधनो की क्या कमी हो सकती है जो वे ऐसे साधनो को त्याग कर निकले? इससे यही स्पष्ट है कि पौद्गलिक साधनो मे सुख नही है। इसलिए सामायिक इस प्रकार के साधन प्राप्त करने के लिए नही की जाती है किन्तु जिस प्रकार बधन से जकड़ा हुआ आत्मा ज्ञान होने पर बन्धनमुक्त होने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार इस ससार की उपाधि से मुक्त होने के लिए ही सामायिक की जाती है। ऐसी दशा मे सामायिक के फलस्वरूप इहलौकिक या पारलौकिक सुख–सम्पदा चाहना या सामायिक के फल के सबध मे ऐसी कल्पना करना भी सर्वथा अनुपयुक्त है। किसी आदमी ने शारीरिक सुख के लिए बढ़िया–बढिया वस्त्र पहन रखें हो, लेकिन उन वस्त्रो के कारण गर्मी लगने लगे और घबराहट होने लगे वैसे समय मे शान्ति तभी हो सकती है, जब वे वस्त्र उतार कर अलग कर दिये जावे। इसके विरुद्ध यदि अधिक वस्त्र शरीर पर लाद लिये गये तो उस दशा मे गर्मी या घबराहट भी नही मिट सकती, न शान्ति ही हो सकती है। इसी के अनुसार जिन पौद्गलिक सयोगो के कारण आत्मा भारी हो रहा है, उन्ही सयोगो मे अधिक फसने पर आत्मा को शान्ति नही मिल सकती। शान्ति तो उनका त्याग करने पर ही मिल सकती है।

कहना यह है कि सामायिक का फल इहलौकिक या पारलौकिक नही है, किन्तु सामायिक का फल निर्जरा अथवा राग–द्वेष रहित सम–भाव की प्राप्ति है। श्री दशवैकालिक सूत्र के नवे अध्ययन के चौथे उद्देशक में यह स्पष्ट कहा गया है, कि आत्म–कल्याण के लिए किये जाने वाले अनुष्ठान इहलौकिक सुख, पारलौकिक ऋद्धि या कीर्त्ति, श्लाघा, महिमा आदि के लिए नही, किन्तु निर्जरा के लिए ही होने चाहिए। यही बात सामायिक के लिए भी है। आत्मा के लिए जो जो असमाधि के कारण है, उन सांसारिक उपाधियों से छूटने के लिए ही सामायिक की जाती है। इसलिए सामायिक का फल ऐसी उपाधियो के कारण होने वाली पाप–प्रवृति का त्याग ही है। यह फल बहुत अश मे सामायिक ग्रहण करते ही प्रत्यक्ष हो जाता है। अर्थात् जिस समय सामायिक ग्रहण की जाती है, उसी समय आध्यात्मिक सुख मे बाधक प्रवृत्तियों से छुटकारा मिल जाता है और समाधि का अनुभव होने लगता है सासारिक उपाधियों का छूटना ही सम–भाव है और सम–भाव की प्राप्ति ही सामायिक का फल है।

कि उपाय तो अवश्य है, लेकिन ये उपाय तुम कर न सकोगे। जब श्रेणिक ने भगवान से उपाय बताने के लिए आग्रह किया तब भगवान् ने उसे ऐसे चार उपाय बताये, जिनमे से किसी भी एक उपाय के करने पर भी वह नरक जाने से बच सकता था। उन चार उपायो में से एक उपाय पूनिया श्रावक की सामायिक खरीद लेना था।

महाराज श्रेणिक पूनिया श्रावक के पास जाकर उससे बोला –भाई पूनिया! तुम मुझ से इच्छानुसार धन ले लो और उसके बदले मे मुझे अपनी सामायिक दे दो। राजा के इस कथन के उत्तर मे पूनिया श्रावक ने कहा–सामायिक का क्या मूल्य हो सकता है, यह मैं नही जानता हू। इसलिए जिन्होने आपको मेरी सामायिक लेना बताया है, आप उन्ही से सामायिक का मूल्य जान लीजिए।

राजा श्रेणिक फिर भगवान् महावीर की सेवा में उपस्थित हुआ। उसने भगवान् को पूनिया श्रावक का कथन सुनाकर पूछा कि पूनिया श्रावक की सामायिक का क्या मूल्य हो सकता है? भगवान् ने राजा श्रेणिक से पूछा तुम्हारे पास इतना वैभव है कि जिसकी छप्पन पहाडियां बन जावें, परन्तु इतना धन तो सामायिक की दलाली के लिए भी पर्याप्त नहीं है। फिर सामायिक का मूल्य कहा से दोगे? भगवान का यह कथन सुनकर राजा श्रेणिक चुप हो गया।

यह घटना इसी रूप मे घटी हो या दूसरे रूप में, अथवा कथानक की कल्पना मात्र ही हो, किन्तु बताना यह है कि सामायिक के फल के सामने सासारिक सम्पदा तुच्छ है, फिर वह कितनी और कैसी भी क्यो न हो ?

सामायिक की सफलता–निष्फलता को सामायिक करने वाला स्वयं ही जान सकता है। कोई निन्दा करे या प्रशसा करे, गाली दे या धन्यवाद दे, मारे–पीटे या छाया करे, धन हरण करे या प्रदान करने लगे, फिर भी अपने मन मे किसी भी प्रकार का विषम भाव न लावे, राग द्वेष न होने दे, किसी को प्रिय–अप्रिय न माने, हृदय मे हर्ष–शोक न होने दे, किन्तु अनुकूल और प्रतिकूल दोनो ही स्थितियो को समान माने, दु:ख से छूटने या सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करे। यह माने कि ये पौद्गलिक सयोग–वियोग आत्मा से भिन्न है और आत्मा इनसे भिन्न है। इस सयोग--वियोग से न तो आत्मा का हित ही हो सकता है न अहित ही। ऐसा सोच कर जो समभाव मे स्थिर रहते है, उन्ही की सामायिक सफल है। इस प्रकार की जिनमे आत्म–दृढता है, वे ही सामायिक को सफल बना सकते है। इसके विरुद्ध जिनकी आत्मा कमजोर

सामायिक का महत्व घटाते है। इतना ही नही किन्तु वे लोग अपने को अधिक पाप मे फसाते है। सामायिक से पाप नष्ट हो जाते है या पाप का फल नही भोगना पडता, ऐसी मान्यता वाले लोग पाप–कर्म करने की ओर से निर्भय हो जाते है और पुन –पुन पाप करते है। इसलिए इस तरह की मान्यता त्याज्य है। सामायिक करने वाले का उद्देश्य पाप–कार्य से सदा बचते रहना ही होना चाहिए। उसकी भावना यह रहनी चाहिए कि सामायिक के समय ही नही, किन्तु ससार–व्यवहार के समय भी मुझे आत्मा को विस्मृत न होने देना चाहिए और यदि मुझे आरम्भादि मे प्रवृत्त होना पडे तो उन कार्यो मे गृद्धि या मूर्छा न रखकर इस तरह का विवेक रखना चाहिए कि जिसमे आस्रव के स्थान पर भी सवर निपजे। जो लोग ऐसी भावना रखते है और ऐसी भावना को कार्यान्वित करने का प्रयत्न करते हैं, उन्ही का सामायिक करना सफल है और उन्होंने सामायिक करने का उद्देश्य भी समझा है। जिसमे इस तरह की भावना नही है, अथवा जो ऐसी भावना को कार्यान्वित करने का प्रयत्न नही करता है, उसने सामायिक का उद्देश्य भी नही समझा है, न उसकी सामायिक ही सफल हो सकती है। ऐसे व्यक्ति का सामायिक करना, केवल प्रशसा या प्रतिष्ठा अथवा धर्म–ठगाई के लिए या स्वार्थ–साधन के लिए चाहे हो, सामायिक के वास्तविक फल के लिए नही है।

कई पूर्वाचार्य सामायिक के फलस्वरूप कई पल्योपम या सागरोपम के नरक का आयुष्य टूटना और देवता का आयुष्य बधना बताते है। किसी अपेक्षा से यह बात ठीक भी हो सकती है, लेकिन इस फल की कामना के बिना जो सामायिक की जाती है उसका फल बहुत ज्यादा है। इसलिए सामायिक इस तरह के पारलौकिक फल की कामना रखकर करना ठीक नही है, किन्तु इसलिए करनी चाहिए कि मेरी आत्मा सदा जागृत रहे और पाप से बचा रहे। जिस प्रकार घडी मे एक बार चाबी देने पर वह किसी नियत समय तक बराबर चला करती है, इसी तरह सामायिक करने वाले को भी एक बार सामायिक करने के पश्चात् पापकर्म से सदा बचते रहना चाहिए, तथा ससार–व्यवहार मे भी समाधिभाव रखना चाहिए, किसी पारलौकिक या इहलौकिक फल की लालसा न करनी चाहिए। ऐसे फल की लालसा से सामायिक का महत्त्व घट जाता है। इसके विरुद्ध जो सामायिक ऐसे फल की लालसा के बिना केवल आत्मशुद्धि के लिए ही की जाती है उसका महत्त्व बहुत अधिक है।

पूजनीये होती है जो केवल शोभा के लिए ही होती है, जिनसे सुविधापूर्वक पूजा नही जा सकता। इस तरह के उपकरण शुद्ध नही कहे जा सकते। पूजनी सादी होनी चाहिए तथा ऐसी होनी चाहिए कि जिससे भली भाति पूजा जा सके। इसी तरह माला भी ऐसी हो कि जिसे फिराने पर किसी तरह अयतना न हो। वस्त्र भी सादे एवं स्वच्छ होने चाहिएं। ऐसे चमकीले भडकीले न होने चाहिए कि जिनसे अपने या दूसरे के चित्त में किसी प्रकार की अशान्ति हो, न ऐसे गन्दे ही हो कि जिनके कारण दूसरे को घृणा हो अथवा जिन पर मक्खिया भिनभिनाती हो। पुस्तके भी ऐसी हों जो आत्मा की ज्योति को प्रदीप्त करे। जिनसे किसी प्रकार का विकार उत्पन्न होता हो ऐसी पुस्तकें न होनी चाहिएं।

2 क्षेत्र शुद्धि— क्षेत्र से मतलब उस स्थान से है, जहां सामायिक करने के लिए बैठना है, या बैठा है। ऐसा स्थान भी शुद्ध होना आवश्यक है। जिस स्थान पर बैठने से विचारधारा टूटती हो, चित्त में चंचलता आती हो, अधिक स्त्री–पुरुष या पशु–पक्षी का आवागमन अथवा निवास हो, विषय–विकार उत्पन्न करने वाले शब्द कान मे पड़ते हों, दृष्टि मे विकार आता हो, या क्लेश उत्पन्न होने की सम्भावना हो, उस स्थान पर सामायिक करने के लिए बैठना ठीक नही है। सामायिक करने के लिए वही स्थान उपयुक्त हो सकता है जहा चित्त स्थिर रह सके, आत्मचितन किया जा सके। गुरु महाराज या स्वधर्मी बन्धुओ का सामीप्य हो, जिससे ज्ञान की वृद्धि हो सके। इस तरह के स्थान पर सामायिक करना क्षेत्र–शुद्धि है। आत्मा को उच्च दशा मे पहुचाने वाले साधनों मे क्षेत्र शुद्धि भी आवश्यक है।

3 काल शुद्धि— काल का मतलब है समय। समय का विचार रखकर जो सामायिक की जाती है, वह सामायिक निर्विघ्न और शुद्ध होती है। समय का विचार न रखकर सामायिक करने बैठने पर सामायिक मे अनेक प्रकार के सकल्प–विकल्प होते है और चित्त शान्त नही रहता है। इसलिए सामायिक का काल भी शुद्ध होना चाहिए।

4 भाव शुद्धि— भाव शुद्धि से मतलब है मन, वचन और काय की एकाग्रता। मन, वचन, काय के योग की एकाग्रता जिन दोषो से नष्ट होती है उन दोषो का त्याग करना भाव शुद्धि है। भाव शुद्धि के लिए उन दोषों को जानना और उनसे बचना आवश्यक है जो दोष मन, वचन, काय के योग की एकाग्रता भग करते है।

9 अविनय- सामायिक के प्रति विनय-भाव न रखना, अथवा सामायिक मे देव, गुरु, धर्म की आसातना करना, उनका विनय न करना 'अविनय' नाम का नवॉ दोष है।

10 अबहुमान- सामायिक के प्रति जो आदरभाव होना चाहिए, उस आदरभाव के बिना किसी दबाव से या किसी प्रेरणा से बेगारी की तरह सामायिक करना, 'अबहुमान' नाम का दसवा दोष है।

ये दसो दोष मन के द्वारा लगते है। इन दस दोषो से बचने पर सामायिक के लिए मन शुद्धि होती है और मन एकाग्र रहता है।

कुवयण सहसाकारे सछन्द संखेव कलहं च
विगहा वि हासोऽशुद्धं निरवेक्खो गुणगुणा दोसा दस।।

1 कुवचन -- सामायिक मे कुत्सित वचन बोलना 'कुवचन' नाम का दोष है।

2 सहसाकार--बिना विचारे सहसा (निश्चयात्मक) इस तरह बोलना कि जिससे दूसरे को हानि हो और सत्य भग हो तथा व्यवहार मे अप्रतीति हो, 'सहसाकार' नाम का दोष है।

3 सच्छन्द--सामायिक मे ऐसे गीत गान जिससे अपने या दूसरे मे कामवृद्धि हो, 'सच्छन्द' दोष है।

4 संक्षेप--सामायिक के पाठ या वाक्य को सक्षिप्त करके बोलना 'सक्षेप' दोष है।

5 कलह--सामायिक मे कलहोत्पादक वचन बोलना 'कलह' दोष है।

6 विकथा--बिना किसी सदुद्देश्य के स्त्री-कथा आदि चार विकथा करना, 'विकथा' दोष है।

7 हास्य--सामायिक मे हसना, कौतूहल करना अथवा व्यग पूर्ण शब्द बोलना, 'हास्य दोष' है।

8 अशुद्ध--सामायिक का पाठ जल्दी-जल्दी शुद्धि का ध्यान रखे बिना बोलना या अशुद्ध बोलना 'अशुद्ध' दोष है।

9 निरपेक्ष-सामायिक मे बिना सावधानी रखे बोलना 'निरपेक्ष' दोष है।

10 मुम्मुन--सामायिक के पाठ आदि का स्पष्ट उच्चारण न करना किन्तु गुनगुन बोलना 'मुम्मुन' दोष है।

ये दस दोष वचन सबधी है। इन दस दोषो से बचना वचन शुद्धि है।

सामायिक की भूमिका की विशुद्धि के पश्चात् सामायिक ग्रहण करने की विधि का भी पूरी तरह पालन होना चाहिए। सामायिक ग्रहण करने के लिए तत्पर व्यक्ति को अपने शरीर पर एक धोती और एक ओढने का वस्त्र, इन दो वस्त्रो के सिवाय और कोई वस्त्र न रखना चाहिए। सिले हुए वस्त्र जैसे कोट, कुर्त्ता आदि और सिर पर जो वस्त्र हो, चाहे वह टोपी हो, पगडी हो, या साफा हो, त्याग देनी चाहिए यानि उतार कर अलग रख देना चाहिए। पश्चात् सामायिक के लिए उपयोगी उपकरण जैसे रजोहरण, मुख–वस्त्रिका और आसन आदि ग्रहण करके, उस भूमि को परिमार्जित करना चाहिए, जहा बैठ कर सामायिक करना है। भूमि प्रमार्जन करके प्रमार्जित भूमि पर आसन बिछा, मुहपत्ती बान्ध लेनी चाहिए और फिर नमस्कारमत्र का स्मरण करना चाहिए। नमस्कारमत्र को स्मरण करने के पश्चात् गुरु महाराज को वन्दन करके उनसे सामायिक करने की आज्ञा मांगनी चाहिए।

यह सब हो जाने पर सामायिक करने से पहले जीवो की अपने द्वारा जो विराधना हुई है, उसका ईरियापथिक पाठ द्वारा स्मरण करना चाहिए और विशेष स्मरण करने के लिए कायोत्सर्ग करना चाहिए। कायोत्सर्ग का उद्देश्य, कायोत्सर्ग करने की विधि और कायोत्सर्ग मे रहने पर शरीर की प्राकृतिक क्रियाओ के होने पर भी कायोत्सर्ग अभंग रहने के लिए, कायोत्सर्ग के नियमो का स्मरण 'तस्स उत्तरी' पाठ द्वारा करके यह प्रतिज्ञा करे कि मेरा कायोत्सर्ग तब तक अभग रहे, जब तक मैं 'अरिहन्त भगवान को नमस्कार रूप' वाक्य न बोलू। 'तस्स उत्तरी' पाठ पूर्ण होते ही, कायोत्सर्ग करके उन दोषो को विशेष रूप से स्मरण करके आलोचना करे जो जीवो की विराधना से हुए हो।

कायोत्सर्ग समाप्त होने पर आत्मा को शुद्ध दशा मे स्थिर करने के लिए 'लोगस्स सूत्र' का पाठ पढे, जिससे आत्मा मे जागृति हो और आत्मा सामायिक ग्रहण करने के योग्य बने। आत्मा मे जागृति लाने और आत्मा को ध्येय– साधन के योग्य बनाने का एक मात्र साधन परमात्मा की प्रार्थना करना ही है।

'लोगस्स सूत्र' का पाठ बोल कर, सामायिक की प्रतिज्ञा स्वरूप 'करेमि भते' का पाठ बोल कर, सामायिक स्वीकार करे। यह करके, फिर परमात्मा की प्रार्थना स्वरूप 'शक्रस्तव' (नमोत्थुण) दो बार बोलकर 'सिद्ध तथा अरिहन्त' भगवान् को नमस्कार करे।

बहुत से लोग सामायिक द्वारा आत्म–ज्योति जगाने के लिए सामायिक की विधि पूरी नही करते, और यदि करते भी है तो उपयोग रहित होकर केवल

कण्ठा लेकर कलकत्ता के लिए चल दिया। यद्यपि वह कण्ठा मूल्यवान था और जौहरी श्रावक के देखते हुए बल्कि जौहरी श्रावक को बताकर वह दूसरा श्रावक कण्ठा ले जा रहा था, फिर भी जौहरी श्रावक सामायिक से विचलित नही हुआ। यदि वह चाहता तो उस दूसरे श्रावक को कण्ठा ले जाने से रोक सकता था, अथवा हो–हल्ला करके उसको पकडवा सकता था, लेकिन यदि वह ऐसा करता तो उसकी सामायिक भी दूषित होती और सामायिक लेते समय उसने जो प्रत्याख्यान किया था, वह भी टूटता। जौहरी श्रावक दृढ़–निश्चयी था, इसलिए कण्ठा जाने पर भी वह सामायिक मे समभाव प्राप्त करता रहा।

सामायिक करके जौहरी श्रावक अपने घर आया। उस समय भी उसको कण्ठा जाने का खेद नहीं था। उसके घर वालों ने उसके गले में कण्ठा न देखकर उससे कण्ठे के लिए पूछा भी कि कण्ठा कहा गया ? लेकिन उसने घर वालो को भी कण्ठे का पता नही बताया। उनसे यह भी नहीं कहा कि मै सामायिक मे बैठा हुआ था उस समय अमुक व्यक्ति कण्ठा ले गया। किन्तु यही कहा कि कण्ठा सुरक्षित है।

वह दूसरा श्रावक कण्ठा लेकर कलकत्ता गया। वहां उस्ने वह कण्ठा बन्धक (गिरवी) रख दिया और प्राप्त रुपयों से व्यापार किया। योगायोग से उस श्रावक को व्यापार से अच्छा लाभ हुआ। श्रावक ने सोचा कि अब मेरा काम चल गया है, इसलिए अब कण्ठा जिसका है उसे वापस कर देना चाहिए। इस प्रकार सोचकर वह कण्ठा छुडाकर दिल्ली आया। उसने अनुनय, विनय और क्षमा प्रार्थना करके, वह कण्ठा जौहरी श्रावक को दिया तथा उससे कण्ठा गिरवी रखने एव व्यापार करने का हाल कहा। उस समय घरवालो एव अन्य लोगो को कण्ठा–सबंधी सब बात मालूम हुई।

मतलब यह कि कोई कैसी भी क्षति करे, सामायिक में बैठे हुए व्यक्ति को स्थिर–चित्त होकर रहना चाहिए, समभाव रखना चाहिए, उस हानि करने वाले पर क्रोध न करना चाहिए और न बदला लेने की भावना ही होनी चाहिए।

श्री उपासकदशाग सूत्र के छठे अध्ययन मे कुण्डकोलिक श्रावक का वर्णन है। उसमे कहा गया है कि कुण्डकोलिक श्रावक अपनी अशोक वाटिका मे अपना उत्तरीय वस्त्र और अपनी नामाकित मुद्रिका उतार कर धर्म चिन्तन कर रहा था। उस समय वहां एक देव आया। कुण्डकोलिक को विचलित करने के लिए वह देव कुण्डकोलिक का अलग रखा हुआ मुद्रिका सहित वस्त्र उठाकर आकाश मे ले गया और आकाश–स्थित होकर उस देव ने कुण्डकोलिक

वैसा ही कहा। आप शरीर से तो सामायिक मे बैठे थे लेकिन आपका चित्त पसारी और मोची के यहा गया था या नही?

पुत्र–वधू का उत्तर सुनकर, उस श्रावक ने अपनी भूल स्वीकार की और भविष्य मे सावधान रहकर सामायिक करने की प्रतिज्ञा की।

यह कथा कल्पित है या वास्तविक है, यह नही कहा जा सकता। इसके द्वारा बताना यह है कि निश्चयनय वाले द्रव्य सामायिक को सामायिक नही मानते, किन्तु उसी सामायिक को सामायिक मानते है जो मन, वचन, काय को एकाग्र रखकर उपयोग सहित की जाती है और जिसमें आत्म–भाव में तल्लीनता होती है। ऐसी सामायिक से ही आत्म–कल्याण होता है और ऐसी सामायिक का ही लोगो पर प्रभाव भी पड़ता है। यानि धर्म और सामायिक के प्रति लोगो के हृदय मे श्रद्धा होती है।
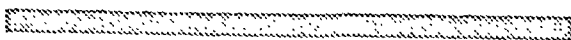
वैसा ही कहा। आप शरीर से तो सामायिक मे बैठे थे लेकिन आपका चित्त पसारी और मोची के यहा गया था या नही?

पुत्र–वधू का उत्तर सुनकर, उस श्रावक ने अपनी भूल स्वीकार की और भविष्य मे सावधान रहकर सामायिक करने की प्रतिज्ञा की।

यह कथा कल्पित है या वास्तविक है, यह नहीं कहा जा सकता। इसके द्वारा बताना यह है कि निश्चयनय वाले द्रव्य सामायिक को सामायिक नही मानते, किन्तु उसी सामायिक को सामायिक मानते है जो मन, वचन, काय को एकाग्र रखकर उपयोग सहित की जाती है और जिसमे आत्म–भाव में तल्लीनता होती है। ऐसी सामायिक से ही आत्म–कल्याण होता है और ऐसी सामायिक का ही लोगों पर प्रभाव भी पड़ता है। यानि धर्म और सामायिक के प्रति लोगो के हृदय मे श्रद्धा होती है।
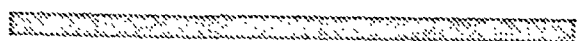
अर्थात् – 1– सचित्त वस्तु, 2–द्रव्य, 3–विगय, 4–जूते, खड़ाऊ, 5–पान, 6–वस्त्र, 7–पुरुष, 8–वाहन, 9–शयन, 10–विलेपन, 11–ब्रह्मचर्य, 12–दिक्, 13–स्नान और 14– भोजन।

1 सचित्त–पृथ्वी, पानी, वनस्पति, फल–फूल, सुपारी, इलायची, बादाम, धान्य, बीज आदि सचित्त वस्तुओ का यथाशक्ति त्याग अथवा यह परिमाण करे कि मैं इतने द्रव्य और इतने वजन से अधिक उपयोग में न लूंगा।

2 द्रव्य– जो पदार्थ स्वाद के लिए भिन्न–भिन्न प्रकार से तैयार किए जाते है, उनके विषय मे यह परिमाण करे कि आज मै इतने द्रव्य से अधिक द्रव्य उपयोग मे न लूगा। यह मर्यादा खान–पान विषयक द्रव्यो की की जाती है।

3 विगय–शरीर मे विकृति उत्पन्न करने वाले पदार्थो को विगय कहते है। दूध, दही, घृत, तेल और मिठाई ये पांच सामान्य विगय है। इन पदार्थो का जितना भी त्याग किया जा सके, उतने का करे अथवा मर्यादा करे कि आज मै अमुक–अमुक पदार्थ काम में न लूंगा अथवा अमुक पदार्थ इतने वजन से अधिक काम मे न लूगा।

मधु और मक्खन ये दो विशेष विगय है। इनका निष्कारण उपयोग करने का त्याग करे और सकारण उपयोग करने की मर्यादा करे।

मद्य एव मास ये दो महा विगय है। श्रावक को इन दोनों का सर्वथा त्याग करना चाहिए।

4 पन्नी–पाव की रक्षा के लिए जो चीजें पहनी जाती है, जैसे–जूते, मौजे, खडाऊ, बूट आदि, इनकी मर्यादा करे।

5 ताम्बूल–जो वस्तु भोजनोपरान्त मुख शुद्धि के लिए खाई जाती है, उनकी गणना ताम्बूल मे है। जैसे–पान, सुपारी, इलायची, चूरन (चूर्ण) आदि, इनके विषय मे भी मर्यादा करे।

6 वस्त्र–पहनने, ओढ़ने के कपडों के लिए यह मर्यादा करे कि अमुक जाति के इतने वस्त्र से अधिक वस्त्र काम में न लूंगा।

7 कुसुम–सुगन्धित पदार्थ, जैसे–फूल, इत्र, तेल व सुगन्धादि के विषय मे भी मर्यादा करे।

8 वाहन–हाथी, घोड़ा, ऊँट, गाडी, तांगा, मोटर, रेल, नाव, जहाज आदि सवारी के साधनो की (चाहे वे साधन स्थल के हो अथवा जल या आकाश के हों) यह मर्यादा करे कि मै अमुक–अमुक वाहन के सिवाय आज और वाहन काम मे न लूंगा।

देशावकाशिक व्रत की दूसरी व्याख्या

जिस प्रकार नियमों का चिन्तन करके प्रत्येक नियम के विषय में मर्यादा करके स्वीकृत व्रतो मे जो मर्यादा रखी गई है, उसको द्रव्य और क्षेत्र से सकोच किया जाता है। उसी प्रकार पांच अणुव्रतों में काल की मर्यादा नियत करके एक दिन–रात के लिए आस्रव–सेवन का त्याग करना भी देशावकासिक व्रत है। इस तरह के त्याग को वर्तमान समय में दया या छः काया कहा जाता है। दया या छः काया करने के लिए, आस्रव द्वार के सेवन का एक दिन–रात के वास्ते त्याग करके विरति पूर्वक धर्म–स्थान में रहा जाता है। ऐसी विरति, त्यागपूर्ण जीवन बिताने के लिए अभ्यास रूप है। दया या छ. काया रूप व्रत उपवास करके भी किया जा सकता है और उपवास करने की शक्ति न हो तो आयंबिल आदि करके भी किया जा सकता है। रसहीन भोजन न किया जा सके तो एकाशना करके भी किया जा सकता है। कारणवश ऐसा कोई तप न हो सके, तो एक से अधिक बार भोजन करके भी किया जा सकता है। लेकिन दया या छः काया व्रत करके जितना भी तप और त्यागपूर्वक रहा जावे उतना ही अच्छा है।

दया या छः काय–व्रत स्वीकार करने के लिए किये जाने वाले प्रत्याख्यान, जितने करण और योग से चाहें, उतने करण व योग से कर सकते है। कोई दो करण तीन योग से पांच आस्रव द्वार के सेवन का त्याग करते है। यानि यह प्रतिज्ञा करते है कि मै मन, वचन और काय से पांच आस्रव द्वारों का सेवन न करूगा, न दूसरे से कराऊंगा। इस तरह की प्रतिज्ञा करने वाला व्यक्ति प्रतिज्ञा करने के पश्चात् जितने समय तक के लिए प्रतिज्ञा ली है, उतने समय तक न तो स्वय ही व्यापार, कृषि या दूसरे आरम्भ, समारम्भ के कार्य कर सकता है, न अन्य से कह कर करवा ही सकता है। लेकिन इस तरह की प्रतिज्ञा करने वाले के लिए जो वस्तु बनी है, उस वस्तु का उपयोग करने से

पौषध को करने के लिए, पांच आस्रव द्वारो के सेवन का त्याग करके सामायिकादि मे समय लगाना चाहिए। यह व्रत स्वीकार करने वाले श्रावक को व्रत के दिन किस प्रकार की चर्य्या रखनी चाहिए, यह संक्षेप मे बताया जाता है।

श्रावक को जिस दिन पौषध (दया या छः काया) करना है, उस दिन समस्त सावद्य व्यापार त्याग कर, पौषध करने योग्य धर्मोपकरण लेकर पौषधशाला अथवा जहा साधु–महात्मा विराजते हो उस स्थान पर उपस्थित होना चाहिए। पश्चात् साधुजी महाराज को वन्दन–नमस्कार करके अपने शरीर और वस्त्रो का प्रतिलेखन करे, तथा उच्चार प्रस्रवण आदि परठने योग्य चीजो को परठने की भूमि का परिमार्जन करे। फिर ईर्यापथिकी क्रिया के पाठ से, उस क्रिया से निवृत्त होकर गुरु महाराज या बड़े श्रावक और जब अकेला ही हो तब स्वत. गुरु महाराज की आज्ञा लेकर पौषध व्रत (दया या छः काया) स्वीकार करे, तथा सामायिक व्रत लेकर स्वाध्याय, ज्ञान, ध्यान आदि से धर्म का पुष्ट अवलम्बन ग्रहण करे। ऐसा कोई कार्य न करे कि जिससे व्रत में बाधा पहुंचे। यदि स्वाध्याय करने की योग्यता न हो तो नमस्कार मंत्र का जाप करे और गुरु महाराज उपदेश सुनाते हो, तो उपदेश श्रवण करे। पश्चात् सामायिकादि पार कर आहार करने के लिए जावे ! आहार करने के लिए जाने के समय, पौषधशाला से निकलते हुए 'आवस्सही आवस्सही' कहे और मार्ग मे यतनापूर्वक ईर्याशोधन करता हुआ चले। भोजन करने के स्थान पर पहुंच कर ईर्यापथिक कायोत्सर्ग करे। फिर भोजन करने के पात्र का प्रतिलेखन करके आहार करने बैठे। उस समय यह भावना करे कि 'मुझे आहार तो करना ही पडेगा, लेकिन आहार करके कोई विशेष निपजाऊं। वे पुरुष धन्य है, जो आहार त्याग कर अथवा आयम्बिल करके या निवी करके पौषध करते है। मुझ मे ऐसी क्षमता नहीं है, इसी से मै इस प्रकार का आहार करता हू। इस प्रकार त्यागवृत्ति वाले लोगो की प्रशंसा करता हुआ आहार करे, जो नीचे बताई गई विधि से हो।

असुरसुरं अवचवं अद्दुअ मविलं वियं अपरिसाडिं।
मण वय काय गुत्तो, भुंजइ साहुव्व उवउत्तो।।

अर्थात् – भोजन करते समय सुडसुडाट न करे, न चपचपाट करें। इसी तरह न बहुत जल्दी भोजन करे, न बहुत धीरे। भोज्य पदार्थ नीचे न गिरने दे, किन्तु मन, वचन, काय को गोप कर साधु की तरह उपयोग सहित आहार करे।

यह पांच अणुव्रतों के पालन और पांच आस्रव द्वार के सेवन का त्याग करने रूप दिन रात के देशावकाशिक व्रत की बात हुई। अब थोड़े समय के लिए पांच आस्रव के सेवन का त्याग करने रूप देशावकाशिक व्रत का स्वरूप बताया जाता है। इस प्रकार के देशावकाशिक व्रत को आधुनिक समय में 'संवर' कहा जाता है। थोड़े समय के देशावकाशिक व्रत यानि संवर के विषय में कहा गया है कि–

दिग्व्रतं यावज्जीवं, संवत्सर चातुर्मासी परिमाणं वा।
देशावकासिकं तु, दिवस प्रहर मुहूर्त्तादि परिमाणं।।

अर्थात्–दिक्व्रत जीवन भर, वर्ष भर या चार मास के लिए स्वीकार किया जाता है किन्तु देशावकाशिक व्रत दिन, प्रहर या मुहूर्त आदि के लिए भी किया जाता है।

इससे स्पष्ट है कि जो देशावकाशिक व्रत दिन भर यानि चार या आठ पहर के लिए स्वीकार किया जाता है उसको पौषध कहते हैं और जो प्रहर, मुहूर्त्त आदि थोड़े समय के लिए स्वीकार किया जाता है, उसे संवर कहते हैं।

थोडे समय का देशावकाशिक व्रत यानि संवर, जितने भी थोड़े समय के लिए स्वीकार करना चाहे कर सकता है।! पूर्वाचार्यो ने सामायिक व्रत का काल कम से कम 48 मिनिट एक मुहूर्त का नियत किया है। इससे कम समय के लिए यदि पाच आस्रव का त्याग करना है, तो उस त्याग की गणना संवर नाम के देशावकाशिक व्रत में ही होगी। जब अवकाशाभाव अथवा अन्य कारणों से विधिपूर्वक सामायिक करने का अवसर न हो, तब इच्छानुसार समय के लिए आस्रव से निवृत्त होने के वास्ते संवर किया जा सकता है।

वर्तमान समय मे देशावकाशिक व्रत चौविहार उपवास न करके कई लोग प्रासुक पानी का उपयोग करते है और इस प्रकार से किये गये देशावकाशिक व्रत को भी पौषध कहते है। परन्तु वास्तव में इस तरह का पौषध देशावकाशिक व्रत ही है। पौषध ग्यारहवें व्रत में पौषध होता है, वैसे ही दशवें व्रत मे भी हो सकता है। ग्यारहवें व्रत का पौषध तब होता है जब चारो प्रकार के आहार का पूर्णतया त्याग कर दिया जावे और चारों प्रकार

देशावकाशिक व्रत के अतिचार

देशावकाशिक व्रत की रक्षा के लिए ज्ञानी माहपुरुषों ने व्रत को दूषित करने वाले कामो की गणना अतिचार में करके, उन कामों यानी अतिचारो से बचते रहने के लिए सावधान किया है। देशावकाशिक व्रत के पाच अतिचार है, जो इस प्रकार है–आणवण प्पओगगे, पेस वण प्पओगे, सद्दाणु वाए रूवाणु वाए, बहिया पपुग्गल पक्खेवे । इन अतिचारों की व्याख्या नीचे की जाती हैः–

1 आनयन प्रयोग – दिशाओं का संकोच करने के पश्चात् आवश्यकता उत्पन्न होने पर मार्यादित भूमि से बाहर रहे हुए सचित्तादि पदार्थ किसी को भेज कर मंगवाना अथवा किसी को भेज कर मर्यादित क्षेत्र से बाहर के समाचार मंगवाना।

इस विषय में टीकाकार ने बहुत कुछ लिखा है। उसका कथन है कि यदि श्रावक स्वयं काम करे तो वह विवेक से काम ले सकता है और चिकने कर्म का बन्ध टाल सकता है, लेकिन दूसरे के द्वारा काम कराने पर श्रावक इस लाभ से वंचित ही रहता है।

2 प्रेष्यप्रयोग – दिशाओं की मर्यादा का संकोच करने के पश्चात् प्रयोजनवश मर्यादा से बाहर की भूमि मे किसी दूसरे के द्वारा कोई पदार्थ या सन्देश भेजना प्रेष्यप्रयोग नाम का अतिचार है। अपना पाप टालने के उद्देश्य से दूसरों को उसकी इच्छा के विरुद्ध कार्य करने की आज्ञा देना भी प्रेष्यवण प्रयोग नाम का अतिचार है।

3 शब्दानुपात–मर्यादा के बाहर की भूमि से संबंधित कार्य उत्पन्न होने पर मर्यादा की भूमि मे रह कर ऐसा टिचकारा या खेंखारा आदि शब्द करना कि जिससे दूसरे लोग शब्द करने वाले का आशय समझ सके और

पौषधोपवास व्रत

श्रावक के बारह व्रतों में से ग्यारहवां और चार शिक्षा व्रतों में से तीसरा व्रत पौषधोपवास व्रत है। इस व्रत को स्वीकार एवं पालन करने से आत्मा का उत्थान होता है, आत्मा परम शान्ति को प्राप्त करता है और आत्मा को समाधि प्राप्त होती है। पौषधोपवास व्रत श्रावक के लिए कहे गये चार प्रकार के विश्राम स्थल में से एक है।

श्री स्थानांग सूत्र में भगवान् महावीर ने एक भारवाहक और उसके विश्राम–स्थल का उदाहरण देकर उसे श्रावक पर घटाया है। उसमें कहा गया है कि भारवाहक के लिए विश्राम के चार स्थल हैं। वे इस प्रकार हैं–

(1) भार को एक कन्धे पर से दूसरे कन्धे पर रखने के समय, जब ऐसा करने के लिए भार खिसकाया जाता है, तब कुछेक देर के लिए विश्राम मिलता है।

(2) मल–मूत्र त्यागने, या खानपान करने को कुछ देर के लिए अपने ऊपर से भार उतारा जाता है तब विश्राम मिलता है।

(3) जब रात हो जाती है तब किसी सराय आदि स्थान में रात भर के लिए भार उतारा जाता है, तब विश्राम मिलता है।

(4) जब चलते–चलते निर्दिष्ट स्थान पर पहुंचा जाता है, तब भार उतार देता है और विश्राम पाता है।

भारवाहक की तरह गृहस्थ भी जो गृह–संसार रूप भार वहन कर रहा है, चार स्थल पर ही विश्राम पाता है। अर्थात् चार स्थलों पर ही वह गृह–संसार के बोझ से हल्का होता है और तब उसे विश्राम मिलता है। वे चार स्थल इस प्रकार है–

(1) 'मै अणुव्रत–गुणव्रत आदि व्रत स्वीकार करके पौषधोपवास करता हुआ विचारूं, ऐसा करना ही मेरे लिए कल्याणकारी है' इस प्रकार की

धर्मानुष्ठान मे लगाने का नाम आहार त्याग पौषध है। वह आहार त्याग पौषध दो प्रकार का है, देश से और सर्व से। क्षुधा–वेदनीय का परिषह नहीं जीत सके, इस लिए क्षुधा–कुक्करी को टुकडा फेंकने रूप शरीर को भाड़ा देने के लिए आयंबिल करना, निवी करना अथवा एकासना, वियासना करके धर्म को पोषण देना देश से आहार पौषध है, और सम्पूर्ण दिन रात्रि चौविहार उपवास करना सर्व से आहार–त्याग पौषध है।

2 शरीर पौषध–स्नान, उबटन, विलेपन, पुष्प, गन्ध, अलंकार, वस्त्र आदि से शरीर को अलंकृत करने का त्याग करके धर्मानुष्ठान में लगाना, शरीर पौषध है।

शरीर पौषध भी दो प्रकार का होता है। एक तो देश से और दूसरा सर्व से। शरीर–अलकार के साधनों में से कुछ त्यागना और कुछ न त्यागना, देश से शरीर पौषध है। जैसे आज मै उबटन न लगाऊंगा, तेल–मर्दन न करूगा या अमुक कार्य न करूंगा। इस प्रकार अलंकार के कुछ साधनों का त्याग करना, देश से शरीर पौषध है और दिन रात के लिए शरीर–अलंकार के सभी साधनों का सर्वथा त्याग करना, सर्व से शरीर पौषध है।

3 ब्रह्मचर्य पौषध–तीव्र मोह के उदय के कारण वेद जन्य चेष्टा रूप मैथुन और मैथुनांग का त्याग करके आत्म भाव में रमण करना और धर्म का पोषण करना, ब्रह्मचर्य पौषध है।

ब्रह्मचर्य पौषध के भी दो भेद हैं। एक देश से ब्रह्मचर्य पौषध और दूसरा सर्व से ब्रह्मचर्य पौषध। अपनी पत्नी के संबंध में कोई मर्यादा करना देश से ब्रह्मचर्य पौषध है और मैथुन का सर्वथा त्याग करके धर्म का पोषण करना, सर्व से ब्रह्मचर्य पौषध है। इस प्रतिपूर्ण पौषध व्रत की कोटि में शुमार किया जाता है जिसका त्याग इसे प्रकार पाठ बोल कर किया जाता है।

"ग्यारहवां पडिपुण्ण पोसहवयं, सव्वं असणं पाणं खाइमं साइमं पच्चक्खामि, अबम्भ सेवणं पच्च्क्खामि; उमुक मणि– हिरण्ण सुवण्ण–माला वण्णग विलेवणं पच्चक्खामि; सत्थ मुसलाई सव्व सावज्ज जोगं पच्चक्खामि जाव अहोरत्तं पज्जुवासामि; दुविहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा, तस्स भंते पडिक्कमामि, निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।"

इस पाठ द्वारा चारों प्रकार का आहार सब प्रकार की शरीर शुश्रूषा, अब्रह्मचर्य और समस्त सावद्य व्यापार का पूर्ण अहोरात्रि के लिए त्याग किया जाता है। यहां तक कि प्रातःकाल सूर्योदय हो जाने के बाद पौषध वृत्ति

सुख के समय हर्ष होता था, न दुःख के समय खेद होता था। वह आस्रव, संवर आदि तत्त्वो को भी समझता था, इसलिए यथासम्भव संवर और निर्जरा के कारणो का ही व्यवहार करता था। वह मोक्षप्राप्ति का इच्छुक था, इससे अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व दिनों मे पौषध किया करता था। वह किस प्रकार पौषध करता था, यह ऊपर बताया ही जा चुका है। वह धर्म से संबंधित कामों को नौकरो से नहीं कराता था, किन्तु स्वयं करता था। इसीलिए उसने स्वयं ही पौषधशाला का परिमार्जन किया। इसी प्रकार धर्म करने के लिए जिस सादगी की आवश्यकता है, वह सादगी भी उसमें थी। इसका प्रमाण है दर्भ का संथारा। जो धार्मिक कार्यो में इस प्रकार कर्त्तव्यनिष्ठ रहता है और सादगी रखता है, वही धर्म का पालन भी कर सकता है और वही मोक्ष भी प्राप्त करता है। ऐसे ही व्यक्ति की धार्मिकता का प्रभाव दूसरे लोगों पर भी पडता है।

पौषध व्रत स्वीकार करने के पश्चात् क्या करना चाहिए? यह बात सामायिक व्रत का वर्णन करते हुए बताई जा चुकी है फिर भी थोड़े में यहां उन बातो का पुनः वर्णन अप्रासंगिक न होगा।

पौषध व्रत स्वीकार करने वाले श्रावक का जीवन जितने समय के लिए पौषध व्रत स्वीकार किया है उतने समय के लिए साधु जीवन के अनुरूप हो जाता है। इसलिए पौषध व्रत–धारी व्यक्ति को वैसा ही कार्य करना उचित है, जिसे करने से पौषध व्रत स्वीकार करने का उद्देश्य पूर्ण हो। पौषध व्रत–धारी श्रावक को इंद्रियों तथा मन पर संयम रख कर, समस्त सांसारिक संकल्प–विकल्प त्याग देने चाहिएं तथा आत्म–चिंतन, तत्त्व–मनन एवं परमात्म–भजन में ही तल्लीन रहना चाहिए। उसको सारा दिन और सारी रात इन्ही कार्यो में बिताना चाहिए। पौषध व्रत स्वीकार करने के पश्चात् गृह–संसार, आजीविकोपार्जन, खान–पान और शरीर–शुश्रूषा संबंधी चिन्ता तो छूट ही जाती है! इसलिए पौषध व्रत का अधिक से अधिक समय धर्माराधना में ही लगाना चाहिए। रात में भी जितना हो सके उतना धर्म–जागरण करना चाहिए।

पूर्व कालीन श्रावकों का जो वर्णन सूत्रों में है, उससे पाया जाता है कि अमुक श्रावक रात्रि का प्रथम भाग व्यतीत हो जाने पर जब धर्म–जागरण कर रहा था, तब उसके पास देव आया जिसने श्रावक से अमुक–अमुक बाते कही, या श्रावक ने ऐसी–ऐसी भावना की। इस वर्णन से स्पष्ट है कि देवता लोग धर्म–जागरण करने वाले श्रावक के पास ही आते है। किसी सोये हुए

4 संस्थान–विचय–स्थिति, लय और उत्पाद रूप, आदि अन्त रहित लोक का चिन्तन करना, सस्थान–विचय है। ऐसा लोक तीन भागो मे विभक्त है, ऊर्ध्व लोक, अधः लोक और तिर्यक् लोक। प्रत्येक लोक में कौन–कौन से जीव रहते है? उनकी गति, स्थिति क्या है? और उन्हे कैसे सुख, दुःख का अनुभव करना होता है? इसका भिन्न–भिन्न विचार करना, संस्थान–विचय नाम का चौथा धर्म–ध्यान है।

धर्म–ध्यान के आज्ञा रुचि, निसर्ग रुचि, सूत्र और अवगाढ रुचि ये चार लक्षण कहे गये है। इन लक्षणो से धर्म ध्यान की पहचान होती है। इन लक्षणो का स्वरूप इस प्रकार हैः–

1 आज्ञा रुचि–भगवान तीर्थकर ने तप, संयम की आराधना के लिए जिन कार्यो का विधान किया है, उन कार्यो के विधायक वचनों पर श्रद्धा होना आज्ञा रुचि है।

2 निसर्ग रुचि–बिना किसी के उपदेश के ही क्षयोपशम भाव की विशुद्धि से जाति–स्मृति आदि ज्ञान होकर तत्वों पर श्रद्धा होना निसर्ग रुचि है।

3 सूत्र रुचि–आप्त प्रतिपादित सूत्रों का अभ्यास करते रहने से तत्वो पर श्रद्धा होना सूत्र रुचि है।

4 अवगाढ़ रुचि–मुनि, महात्माओं की सेवा में रह कर उनका उपदेश सुनने से तत्त्वों पर श्रद्धा होना, अवगाढ़ रुचि है।

धर्म–ध्यान के चार अवलम्बन हैं। अवलम्बन यानि आधार, जिसके सहारे धर्म–ध्यान किया जा सके। ऐसे अवलम्बनों के नाम–वाचन, पृच्छना, पर्यटना और अनुप्रेक्षा है। संक्षेप में इन चारों की व्याख्या भी की जाती है।

(1) सत्साहित्य का वाचन, वाचना है। सत्साहित्य वह है, जिसके अध्ययन से आत्मा में तप, संयम, अहिंसा आदि की भावना उत्पन्न हो या वृद्धि पावे।

(2) सत्साहित्य के वाचन से हृदय में जो प्रश्न उत्पन्न हों, उनका समाधान करने के लिए गुरु महाराज से पृच्छा करना, पूछना है।

(3) सीखे अर्थात् प्राप्त किये हुए ज्ञान का बार–बार चिन्तन करना और प्राप्त ज्ञान दृढ़ करना पर्यटना है।

(4) प्राप्त ज्ञान के अर्थ एवं भेदोपभेद को जानने के लिए उस पर विचार करना अनुप्रेक्षा है।

कथा–वार्त्ता करना 15. स्त्री के अंगोपांग निहारना, 16. खुले मुंह अयत्ना से बोलना, 17. कलह करना और 18. किसी सांसारिक नाते से बुलाना। जैसे–पौषध व्रत–धारी को काकाजी, मामाजी, सुसराजी, सालाजी आदि नाते से न बोलना चाहिए।

ये दोष पौषध व्रत को दूषित करते है, इसलिए इन दोषों से बचते रहना चाहिए। साथ ही दृढ, सहनशील एवं शान्त रहना चाहिए। कई बार पौषध व्रतधारी को अनेक प्रकार के परिषह एव उपसर्ग भी होते हैं। यदि उस समय सहनशीलता न रही तो पौषध व्रत भग हो जाता है। उपासकदशांग सूत्र मे चुलनीपिता आदि श्रावकों का वर्णन है। जिनमें से कई श्रावकों को पौषध व्रत से विचलित करने के लिए देव आया। देव ने उनके सामने अनेक भयंकर दृश्य उपस्थित किये। उनके पुत्रों को लाकर उन्हीं के सामने मार डाला और मृत शरीर के टुकड़े तेल के कड़ाह में डाल कर पुत्रों का रुधिर–मांस व्रत में बैठे हुए पिता (श्रावक) के शरीर पर छींटा। जब वह सब करने पर भी वे श्रावक अविचल रहे, तब किसी की माता को मारने का कहा, किसी की पत्नी को मारने का भय दिखाया, किसी को रोग का भय दिखाया और किसी को धन–हरण का। इस तरह के सीमातीत भयंकर दृश्यों को देखकर व सुनकर उन व्रतधारी श्रावकों की सहनशीलता कायम न रही। वे उस देव को पकड़ने के लिए उठे, लेकिन उनके हाथ वह देव न आया किन्तु खम्भा आया। उस थम्भे को पकड़ कर उन श्रावकों ने जोर से हल्ला किया।

इस तरह के वर्णन देकर शास्त्रकार उन श्रावकों के लिए 'भग्गवए' 'भग्गनियमे', 'भग्यपोसहे' लिखते हैं। यानि यह लिखते हैं कि उन श्रावकों का व्रत और पौषध भंग हो गया। इस से समझ लेना चाहिए कि पौषध व्रत को अभंग रखने के लिए श्रावक को कैसा सहनशील रहना चाहिए? जो अपना पौषध व्रत अभग रखना चाहता है, वह मरणदायक उपसर्ग भी शान्तिपूर्वक सह लेता है। उपसर्ग से विचलित होकर व्रतभंग नहीं करता है। महाराजा उदायन पौषध व्रत मे थे। रात के समय एक साधु वेशधारी ठग ने उनको घोर उपसर्ग दिया अर्थात उनके प्राण ले लिए। यदि महाराज उदायन चाहते तो हो–हल्ला कर सकते थे और उस दशा में सम्भव था कि उनके प्राण भी बच जाते अथवा वह ठग पकडा भी जाता। लेकिन वे उस स्थिति मे भी सहनशील ही रहे। इस तरह की क्षमा, सहनशीलता और दृढ़ता से ही उन्होंने तीर्थकर नाम गोत्र का उपार्जन किया तथा वे अगली चौबीसी में तीसरे तीर्थकर भगवान् होंगे।

का आमन्त्रण देने लगी। रेवती प्रथम बार तो निराश होकर लौट गई, लेकिन दूसरी बार संथारा मे फिर महाशतकजी के पास जाकर महाशतकजी को विचलित करने का प्रयत्न करने लगी। उस समय महाशतकजी को अवधिज्ञान हो गया था। महाशतकजी ने अवधिज्ञान द्वारा रेवती का भविष्य जानकर आवेश मे आ रेवती से कहा कि तू निरर्थक कष्ट क्यों उठाती है। शीघ्र ही तुझे अर्श रोग होगा, जिससे तू आज के सातवें दिन मर कर रत्नप्रभा नाम की प्रथम पृथ्वी मे चौरासी हजार वर्ष की आयु वाले नारकीय जीव के रूप मे उत्पन्न होगी। महाशतकजी का यह कथन सुनकर, रेवती भयभीत होकर वहा से चली गई और आर्त–रौद्र ध्यान करती हुई मर कर नरक में गई।

यद्यपि महाशतकजी ने जो कुछ कहा था वह सत्य ही था, परन्तु था अप्रिय। इसलिए भगवान् ने महाशतकजी का व्रत दूषित हुआ मानकर गौतमस्वामी द्वारा महाशतकजी को आलोचना, प्रायश्चित्त करने की सूचना दी। महाशतकजी ने भगवान् की सूचना शिरोधार्य की और वैसा ही किया।

मतलब यह है कि पौषध व्रत–धारी को अप्रिय एवं कठोर सत्य बात भी न कहनी चाहिए। इसी तरह उन सब मानसिक, वाचिक तथा कायिक कार्यो से बचे रहना चाहिए, जिनसे पौषध व्रत दूषित होता है और वे ही कार्य करने चाहिएं जिनके करने से धर्म पुष्ट होता है।

प्रतिलेखन और प्रमार्जन मे अन्तर है। इसी से दोनों के विषय में अलग–अलग अतिचार कहे गये है। प्रतिलेखन दृष्टि द्वारा होता है। यानि दृष्टि से देख लिया जाता है कि कोई जीव तो नही है। लेकिन प्रमार्जन, पूजनी या रजोहरण द्वारा होता है। दिन के प्रकाश में तो प्रतिलेखन किया जाता है, लेकिन प्रकाश न होने के कारण जब प्रतिलेखन नहीं हो सकता, तब रात्रि आदि मे रजोहरण या पूजनी द्वारा प्रमार्जन किया जाता है और इस प्रकार यतना की जाती है।

3 अप्रतिलेखित दुष्प्रतिलेखित उच्चार प्रस्रवण भूमि– शरीर–चिन्ता से निवृत्त होने के लिए त्यागे जाने वाले पदार्थो को त्यागने के स्थान का प्रतिलेखन ही न करना या भली भांति प्रतिलेखन न करना, अप्रतिलेखित दुष्प्रतिलेखित उच्चार प्रस्रवण भूमि नाम का अतिचार है।

4 अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित उच्चार प्रस्रवण भूमि – तीसरे अतिचार में जिस स्थान का वर्णन किया गया है, उस स्थान का प्रमार्जन न करना या भली भाति प्रमार्जन न करना, अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित उच्चार प्रस्रवण–भूमि नाम का अतिचार है।

5 पौषधोपवास सम ननुपालन – पौषधोपवास व्रत का सम्यक् प्रकार से उपयोग सहित पालन न करना या सम्यक् रीति से पूरा न करना, पौषधोपवास समननुपालन नाम का अतिचार है।

इन अतिचारों से बचे रहने पर व्रत निर्दोष रहता है और आत्मा का उत्थान होता है।

जो महात्मा आत्मज्योति जगाने के लिए सासारिक खटपट त्याग कर संयम का पालन करते है और सन्तोष वृत्ति को धारण करते है, उनको जीवन–निर्वाह के लिए अपने वास्ते तैयार किये हुए आहारादि मे से उन श्रावक निर्ग्रन्थो के कल्पनानुसार दान देना, अतिथि–संविभाग व्रत है। साधु–महात्मा को श्रावक अपने लिए बनाई गई चीजों में से कौन–कौन सी चीजे दे सकता है? और साधुओ को किन–किन चीजों का दान देना श्रावक का कर्त्तव्य है? यह बताने के लिए शास्त्र में निम्न पाठ आया है:–

कप्पइ मे समणे निग्गन्थे फासु एसणिज्जं असणं पाणं खाइमं साइमं वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुच्छणं पडिहारिय पीढ फलग सिज्जा संथारा ओसह भेसज्जेणं पडिलाभेमाणे विहरइ।

अर्थात्–(श्रावक कहता है) मुझे श्रमण–निग्रन्थों को, आधकर्मादि सोलह उद्‌गम दोष और अन्य छब्बीस दोष रहित प्रासुक एवं एषणिक (उन महात्माओं के लेने योग्य) अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, कम्बल (पात्र, जो शीतादि से बचने के काम मे आता है,) पादपोंछन (जो जीव रक्षा के लिए पूंजने के काम मे आते है, वे रजोहरण या पूजनी आदि) पीठ (बैठने के काम में आने वाले छोटे पाट), फलक (सोने के काम में आने वाले बड़े लम्बे पाट), शय्या (ठहरने के लिए घर), सथारा (बिछाने के लिए घास आदि), औषध और भेषज ये चौदह प्रकार के पदार्थ जो उनके जीवन–निर्वाह में सहायक है, प्रतिलाभित करते हुए विचरना कल्पता है। इन पदार्थो से मुनि–महात्माओं को प्रतिलाभित करना श्रावक का कर्त्तव्य है और इस कर्त्तव्य के पालन करने की प्रतिज्ञा करना, इसी का नाम अतिथि–संविभाग व्रत है।

दान के उत्कृष्ट पात्र मुनि–महात्माओं को उनके कल्पानुसार प्रासुक एव एषणिक पदार्थ का दान वही श्रावक दे सकता है, जो स्वयं भी ऐसे पदार्थ काम मे लाता है। क्योकि मुनि महात्मा वही पदार्थ दान मे ले सकते है जो पदार्थ दान मे देने वाले ने अपने लिए या अपने कुटुम्बियों के लिए बनाया हो। इसके विरुद्ध जो पदार्थ मुनि के लिए बनाया गया है अथवा खरीद कर लाया गया है, वह पदार्थ मुनि महात्मा नहीं लेते, किन्तु उसे दूषित और अग्राह्य मानते है। इसलिए जो श्रावक अतिथि–संविभाग व्रत को पालन करने के लिए मुनि को दान देने की इच्छा रखता है, उसे अपने खान–पान, रहन–सहन आदि के काम मे वैसी ही चीजें लेनी होंगी, जिनमे से मुनि–महात्माओं को भी प्रतिलाभित किया जा सके। जो श्रावक ऐसा नहीं करता है, वह मुनि–महात्माओ को दान देने का लाभ भी नही ले सकता है। उदाहरण के लिए

भी शुद्ध हो और पात्र भी शुद्ध हो। इन तीनो का सयोग मिलने पर महान् लाभ होता है।

द्रव्य शुद्ध हो– इस कथन का मतलब वस्तु की श्रेष्ठता नही है, किन्तु यह मतलब है कि जो द्रव्य अध कर्मादि 16 दोषो से रहित हो, तथा जो मुनि महात्माओ के तप, सयम का सहायक एव वर्द्धक हो। ऐसा ही द्रव्य शुद्ध माना जाता है। दाता वह शुद्ध है जो बिना किसी प्रति–फल की इच्छा अथवा स्वार्थ–भावना के दान देता है तथा जिसके हृदय मे पात्र के प्रति श्रद्धा–भक्ति हो। पात्र वह शुद्ध है, जो गृह–प्रपच को त्याग कर सयम पूर्ण जीवन व्यतीत कर रहा हो और जो सयम का पालन करने के लिए ही दान ले रहा हो। इन तीनो बातो का एकीकरण होने पर ही श्रावक इस बारहवे व्रत का लाभ पाता है। बारहवे व्रत के पाठानुसार तो व्रत की व्याख्या यहां ही पूर्ण हो जाती है परन्तु इस व्रत का उद्देश्य केवल मुनि–महात्माओं को ही दान देना नहीं है, किन्तु श्रावक के जीवन को उदार एवं विशाल बनाना भी इस व्रत का उद्देश्य है। जीवन–निर्वाह के लिए जो अत्यन्त आवश्यक है उस भोजन मे भी जब श्रावक दूसरे के लिए विभाग करता है तब दूसरी ऐसी कौन–सी वस्तु हो सकती है? जिसमे श्रावक दूसरे का विभाग न करे किन्तु जिसके अभाव में दूसरे लोग दुःख पावे और श्रावक उसको अनावश्यक ही भण्डारो के ताले मे बन्द कर रक्खे। श्रावक अपने पास के समस्त पदार्थो में से दूसरे को भाग दे देता है और पदार्थ पर से ममत्व उतार कर दूसरे की भलाई कर सकता है क्योकि श्रावकपन स्वीकार करने के पश्चात् मनुष्य का जीव नही बदल जाता है। श्रावकपन स्वीकार करने वाले के लिए शास्त्र में कहा गया है:–

समणोवासए जाए अभिगयजीवाजीवे जाव पडिलाभेमाणे विरहइ।

अर्थात्–वह श्रमणोपासक अवस्था में जन्मा है और जीव–अजीव का ज्ञाता होकर यावत् प्रतिलाभित करता हुआ विचरता है।

इस पाठ के द्वारा श्रावक को द्विजन्मा कहा गया है। श्रावक का एक जन्म श्रावकपन स्वीकार करने के पहले होता है और दूसरा जन्म श्रावकपन स्वीकार करने के पश्चात् होता है। श्रावक होने से पहले व्यक्ति जिन भोग्योपभोग्य पदार्थो में आसक्त रहता था, ममत्वपूर्वक जिनका सग्रह करता था और जिनके लिए क्लेश, कंकाश एवं महान् अनर्थ करने के लिए उतारू हो जाता था, वही श्रावक होने के पश्चात् उन्ही पदार्थो को अधिकरण रूप (कर्म बन्ध का कारण) मानता है और उनसे ममत्व घटाता है तथा सचित सामग्री से दूसरे को सुख–सुविधा पहुंचाता है। इस प्रकार श्रावकत्व

ही उनकी द्रव्य ऋद्धि व उनके कार्य आदि का विवरण दिया है और साथ ही यह भी बता दिया है कि वे कैसे तत्त्वज्ञ थे ? इतना ही नहीं, किन्तु उनकी उदारता का भी परिचय दिया है और यह भी बताया है कि जनहित के समय वे आरम्भ–समारम्भ की आड नहीं लिया करते थे।

सारांश यह है कि श्रावक अनुदार या कृपण नहीं होता है, किन्तु वह अपनी वस्तु का लाभ दूसरे लोगो को भी देता है। ज्ञाता सूत्र के आठवें अध्ययन मे अरणक श्रावक का वर्णन है। उस वर्णन में कहा गया है कि जब अरणक श्रावक व्यापार के लिए विदेश जाने को तैयार हुआ, तब उसने अपने कुटुम्बियो एव सजातियो को आमन्त्रित करके प्रीति–भोजन कराया और फिर उनसे स्वीकृति लेकर विदा हुआ। वह अपने साथ बहुत से उन लोगों को भी ले गया था, जो व्यापार करने की इच्छा रखते थे। समुद्र में एक देव ने अरणक को धर्म से विचलित करने के लिए उपसर्ग दिये, लेकिन अरणक अविचल ही रहा। तब वह देव अरणक को दो जोडे दिव्य कुण्डल के देकर चला गया। अरणक ने उन दिव्य कुण्डलों पर भी ममत्व नही किया, किन्तु दूसरे को भेंट कर दिये।

राजप्रश्नीय सूत्र के अनुसार राजा प्रदेशी ने श्रावक होते ही यह प्रतिज्ञा की थी कि मै राज्य की आय के चार भाग करूंगा। जिनमें से एक भाग दानशाला मे व्यय किया करूंगा, जिससे श्रमण माहण आदि पथिकों को शान्ति मिला करे।

इस तरह के वर्णनों से स्पष्ट है कि श्रावक कृपण नहीं होता है, किन्तु उदार होता है। वह दूसरे की भलाई से संबंधित कामों के प्रसंग पर आरम्भ–समारम्भ या दूसरी कोई आड़ लेकर बचने का प्रयत्न नहीं करता है। बल्कि वह जनहित का भी वैसा ही ध्यान रखता है, जैसा ध्यान अपना या कुटुम्ब के लोगो के हित का रखता है। बल्कि कभी–कभी वह दूसरे की भलाई के लिए अपने आपको भी कष्ट में डाल देता है। ऐसे ही श्रावक धर्म की प्रशंसा भी कराते है तथा राजा प्रजा मे आदर भी पाते हैं।

उपासक दशांग–सूत्र में आनन्द श्रावक का वर्णन करते हुए कहा गया है कि आनन्द श्रावक बहुत से राजा, राजेश्वर, तलवर (कोतवाल) माडम्बी, कौटुम्बी, सेठ, सेनापति, सार्थवाह आदि को कार्य मे, कार्य के कारण में, मंत्र (सलाह) मे, कुटुम्ब की व्यवस्था में, गुप्त विचारों में, रहस्य की बातों मे, किसी बात के निश्चय पर आने में, व्यवहार कुशल था, पूछने लायक था और बार–बार पूछने लायक था। वह, उस नगर मे मेढ़ी–प्रमाण, आधार–भूत,

पश्चात्ताप करना पडेगा। क्योंकि कृपण का धन दान या भोग में नहीं लगता, किन्तु व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है।'

धन किसी न किसी मार्ग से जाता जरूर है। वह एक जगह स्थिर नही रहता। फिर दान देकर उसका सदुपयोग क्यों न कर लिया जावे ? भर्तृहरि ने कहा हैः–

दानं भोगो नाशस्तिस्रो, गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुंक्ते, तस्य तृतीया गतिर्भवति।।

अर्थात्–धन की दान, भोग और नाश ये तीन गतियां है। यानि दान देने से जाता है, भोग मे लगाने से जाता है या नष्ट हो जाता है। जो धन न दान में दिया जाता है, न भोग मे लगाया जाता है, उसकी तीसरी गति अवश्यभावी है यानि नष्ट हो जाता है।

दान और भोग मे न आया हुआ धन जब नष्ट ही हो जाता है तब दान द्वारा उसका सदुपयोग ही क्यों न कर लिया जावे? क्योंकि ऐसा न करने पर धन तो नष्ट हो ही जायेगा, तब पश्चात्ताप के सिवाय और बच पावेगा ही क्या? इस बात को दृष्टि में रख कर ही, श्रावक के लिए उदारता रखने का उपदेश दिया जाता है। जो श्रावक इस उपदेश को कार्यान्वित करता है, वह अपने आत्मा का भी कल्याण करता है और संसार में जैन धर्म का महत्त्व भी फैलाता है। लोग समझने लगते है कि जैन धर्मानुयायी श्रावक धन के दास नही होते, किन्तु धन के स्वामी होते है और वे धन का सदुपयोग करते है, उनमे कृपणता नही होती, किन्तु उदारता होती है।

इस बारहवे व्रत का श्रेष्ठतम आदर्श तो है श्रमण निर्ग्रंथों को उनके कल्पानुसार प्रासुक और एषणिक चौदह प्रकार का आहार देना। जो ससार–व्यवहार और गृहादि को त्याग चुके है, जिनको शरीर–रक्षा के लिए आहार एव वस्त्र तथा सयमपालन के लिए आवश्यक उपकरणों की ही आवश्यकता रहती है, जिन्होंने अन्य सभी आवश्यकताएं निःशेष कर दी है, ऐसे महात्माओं को दान देने का फल महान् है। इसलिए श्रावक का प्रयत्न यही रहना चाहिए कि ऐसे उत्कृष्ट पात्र को वह दान दे सके, और ऐसा दान देने के सयोग की प्राप्ति की भावना भी रखनी चाहिए। लेकिन इस तरह के सयोग विशेषतः उन्ही लोगों को प्राप्त हो सकते है, जिनके द्वार अभग है। यानि दान के लिए किसी के भी वास्ते बन्द नहीं है, किन्तु सभी अतिथियो के लिए खुले है। ऐसे लोगो को कभी ऐसे महात्माओ को दान देने का भी सुयोग मिल जाता है, जो गृह–संसार के त्यागी है और दान के उत्कृष्ट पात्र

श्रावक के वर्णन में आया है कि आनन्द श्रावक ने यह प्रतिज्ञा की कि अब से मुझे अन्य तीर्थो को, अन्य तीर्थियो के देवो को और अन्य तीर्थियों द्वारा ग्रहीत जैन–साधु–लिंग को वन्दन नमस्कार करना, उनका आदर–सत्कार करना उनके बोले बिना उनसे बोलना और उन्हे असातादि देना नही कल्पता है। इस वर्णन से अन्य लोगो को दान देना श्रावक के लिए निषिद्ध होना स्पष्ट ही है।'

इस प्रकार के कथन का समाधान यह है कि श्रावक के लिए धर्म–बुद्धि या गुरु–बुद्धि से यह सब करना निषिद्ध है। क्योंकि धर्म–बुद्धि या गुरु–बुद्धि से अन्ततीर्थी के साथ ऐसा व्यवहार करने पर मिथ्यात्व का पोषण होता है। श्रावक की देखा–देखी अन्य लोग भी अन्य तीर्थिकों के साथ ऐसा व्यवहार कर सकते है। जिससे मिथ्यात्व की वृद्धि होगी। इसलिए धर्म–बुद्धि या गुरु–बुद्धि से तो श्रावक के लिए पंच महाव्रत धारी महात्माओं के सिवाय दूसरे लोगो को दान देना निषिद्ध ही है लेकिन व्यवहार–बुद्धि, उपकार–बुद्धि या अनुकम्पा की भावना से दान देने का निषेध कहीं भी नहीं है, किन्तु विधान है। उदाहरण के लिए उपाशक दशांग सूत्र में ही सकडाल पुत्र श्रावक के वर्णन मे कहा गया है कि गौशालक मंखली पुत्र से प्रश्नोत्तर करने के पश्चात् सकडाल पुत्र ने गोशालक को पाट आदि चीजें दीं। इस प्रकार धर्म–बुद्धि या गुरु–बुद्धि से तो दूसरे को दान देने का निषेध है, लेकिन व्यवहारादि–बुद्धि से दूसरे को दान देने का श्रावक के लिए निषेध नहीं है। इसलिए श्रावक का कर्त्तव्य है कि वह सभी अतिथियों को दान देने के लिए अपने घर का द्वार खुला रखे।

है, तब तक तो व्रत को दूषित ही करते है, लेकिन अनाचार के रूप में होते ही व्रत नष्ट कर देते है। इनके सिवाय कुछ अन्य कार्य भी ऐसे है, जिनसे व्रत भंग हो जाता है। वे कार्य इस प्रकार है–

दाणन्तराय दोसा न देई दिज्जन्तयं च वारेई।
दिण्णे व परितप्पई इति किवणता भवे भंगो।।

अर्थात् – पूर्व संचित दानान्तराय कर्म के दोष से ही ऐसी कृपणता रहती है कि स्वयं भी दान नही देता है, दूसरे को भी दान देने से रोकता है और दान देकर दुःखी होता है। इस तरह की कृपणता से अतिथि–संविभागव्रत भंग हो जाता है।

अनेक लोग कृपणता के कारण दान भी नहीं देना चाहते और अपनी कृपणता को छिपाकर उदारता दिखाने एवं पात्र तथा अन्य लोगों की दृष्टि में भले बने रहने के लिए 'नाही' भी नही करते, किन्तु अतिचारों में वर्णित कार्यो का आचरण करने लगते है यानि या तो अचित्त पदार्थ में सचित्त पदार्थ मिला देते है या अचित्त पदार्थ पर सचित्त पदार्थ ढ़ांक देते है, या भोजनादि का समय टाल देते है, अथवा अपनी चीज को दूसरे की बता देते हैं। ऐसा करके वे कृपण लोग अपनी चीज भी बचा लेना चाहते हैं, और साधु मुनिराजों के समीप भक्त एवं उदार भी बने रहना चाहते है। लेकिन ऐसा करना कपट है, अतिचार है और व्रत को दूषित करना है। इसलिए श्रावक को ऐसे कामों से बचना चाहिए।

इस कथन पर कोई कह सकता है कि जिसमें दान देने की भावना ही नही है, उस व्यक्ति में दान देने की भावना से निपजने वाला बारहवां व्रत ही कहां है? और जब व्रत नहीं है, तब अतिचार कैसे? इस कथन का समाधान यह है कि यह व्रत तो एक श्रद्धा रूप होता है, दूसरा प्ररूपणा रूप होता है और तीसरा स्पर्शना रूप होता है, इन तीनों भेदों में से स्पर्शना रूप व्रत तो सयोग मिलने पर ही होता है, लेकिन श्रद्धा और प्ररूपणा रूप व्रत तो सदा ही बना रह सकता है। मायाचार या कपट से श्रद्धा और प्ररूपणा रूप व्रत भी दूषित हो जाता है। इसलिए अतिचार में बताये गये कामों से श्रावक को सावधानीपूर्वक दूर रहना चाहिए।

वाले रोगी और परिणामतः दुःखी देखे जाते है। इन सब बातो से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक सिद्धि के लिए, चाहे वह व्यावहारिक हो या पारमार्थिक हो, तुच्छ हो या महान् हो, ज्ञान और क्रिया दोनों अपेक्षित है। जैसे एक चक्र से रथ नही चल सकता, इसी प्रकार अकेले ज्ञान और अकेली क्रिया से कोई सिद्धि प्राप्त नही हो सकती।

ज्ञान–रहित क्रिया बहुत बार हानिकारक सिद्ध होती है। इसी प्रकार क्रिया–रहित ज्ञान तोता रटत मात्र है। एक आदमी ने तोते को सिखाया कि बिल्ली आवे तो उससे बचना चाहिए।' तोते ने यह शब्द रट लिये। एक बार बिल्ली आई और उसने तोते को अपने निर्दयी पजे में पकड़ लिया। उस समय भी तोता यही रटता रहा– बिल्ली आवे तो उससे बचना चाहिए।' लोग कहने लगे–मूर्ख तोता! अब कब बिल्ली आयगी और कब तू बचेगा!

आशय यह है कि तोते को ज्ञान होने पर भी क्रिया के अभाव में वह बच न सका। इस प्रकार क्रियाविहीन ज्ञान निरर्थक होता है।

जैन शास्त्रो मे जीवन के उत्थान और आत्मा के शाश्वत कल्याण के लिए अनेक प्रकार से क्रियाओं का विधान किया गया है। अब तक श्रावक के बारह व्रतो पर जो प्रकाश डाला गया है, वह गृहस्थों के लिए क्रिया का ही रूप है। इन व्रतो मे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से श्रावक के योग्य सभी कर्त्तव्यों का समावेश हो जाता है, तथापि एक आवश्यक कर्त्तव्य का जो आवश्यक के ही नाम से प्रसिद्ध भी है, विवेचन शेष रह गया है। उसका समावेश हुए बिना गृहस्थधर्म का विवेचन अधूरा ही रहेगा। अतएव उस पर भी विचार कर लेना उचित होगा।

जो क्रिया अवश्य करने योग्य है उसे आवश्यक कहते है। यह नित्य–क्रिया है और नैमित्तिक क्रिया भी है। साधुओं के लिए भी उपयोगी है और श्रावको के लिए भी उपयोगी है, अतएव अनिवार्य है।

आवश्यक छह है–(1) सामायिक (2) चतुर्विंशतिस्तव (3) वन्दना (4) प्रतिक्रमण (5) कायोत्सर्ग (6) प्रत्याख्यान। यहां क्रमशः इन आवश्यकों की व्याख्या की जायेगी।

यद्यपि बारह व्रतो मे 'सामायिक' नामक एक पृथक् व्रत है और उस पर विवेचन किया जा चुका है, तथापि सामायिक का महत्त्व इतना अधिक है कि उसे षडावश्यको मे भी प्रथम स्थान दिया गया है। अतएव आवश्यक–प्रकरण मे उस पर पुनः किंचित् विचार कर लेना अनुचित न होगा। सामायिक के सम्बन्ध मे प्रश्न किया गया है:–

का कथन इससे विपरीत है। उनके कथनानुसार समभाव धारण करने से ही जीवन–व्यवहार भली–भांति चलता है। इस प्रकार दोनों प्रकार के लोग अपनी– अपनी मान्यता प्रकट करते है। इस कारण प्रकृत विषय मतभेद का विषय बन जाता है। मगर तटस्थभाव से विचार करने पर अन्त में यही प्रतीत होता है कि ज्ञानी पुरुषों का कथन ही ठीक है।

इस बात का निर्णय करने के लिए आप यह विचार कीजिए कि दुनिया का काम पढ़े–लिखे लोगों से चल रहा है या अनपढ़ लोगों से? अगर पढे–लिखे लोगो से ही काम चलता हो तो दुनिया में पढ़े–लिखे अधिक हैं या अनपढ लोग अधिक हैं? और अगर सभी लोग पढ़–लिख जाएं तो दुनिया का काम ठीक तरह चल सकेगा? नहीं, तो क्या पढ़ना बुरी बात है? दुनिया मे अनपढ अधिक है और अनपढ़ों द्वारा ही दुनिया का काम चलता है, ऐसा विचार करके क्या कोई पढ़ना छोड़ देता है? संसार में गरीबों की संख्या ज्यादा है, इस विचार से क्या कोई अपने पास का पैसा फैंक देता है? रोगियों की सख्या अधिक जानकर कोई स्वयं रोगी बनने की इच्छा करता है?

ससार में रोगी भले ही अधिक हों, लेकिन कोई स्वेच्छा से रोगी नहीं बनना चाहता। कभी रोग उत्पन्न हो जाता है तो उसे मिटाने का प्रयत्न किया जाता है। इसी प्रकार दुनिया में विषमभाव भी है। मगर विषमभाव अच्छा है या बुरा? जैसे रोग बुरा है उसी प्रकार विषमभाव बुरा है। विषमभाव रोग के समान है और समभाव आरोग्यता के समान है। विषमभाव का रोग समभाव द्वारा ही मिटता है।

जो लोग कहते हैं कि समभाव से संसार का काम नहीं चल सकता, उन्हे सोचना चाहिए कि जब वे दुधमुंहे बालक थे और अपने आप खा–पी नहीं सकते थे, चल-फिर नहीं सकते थे, तब उनके माता–पिता ने उन्हें आत्मतुल्य न मानकर उनकी रक्षा न की होती, तो क्या जीवित होते? इस प्रकार तुम्हारा जीवन समभाव की कृपा से ही टिका हुआ है। ऐसी दशा में कृतघ्न होकर क्यो कहते हो कि समभाव से काम नही चल सकता और विषमभाव से ही काम चल सकता है?

कोई कितना ही क्रूर क्यों न हो? उसमें भी किसी न किसी रूप में थोडी–बहुत मात्रा मे, समभाव विद्यमान रहता है। और उस समभाव की बदौलत ही उसका तथा उसकी जाति का अस्तित्व है। उदाहरणार्थ सिंहनी को लीजिए। सिंहनी क्रूर स्वभाव वाली है, यह सभी कहते है। लेकिन क्या वह अपने बच्चो के लिए भी क्रूर है? क्या वह अपने बच्चो पर समभाव नही

तक जो कुछ कहा गया है वह देशविरति सामायिक को लक्ष्य मे रखकर ही कहा गया है। सर्व विरति सामायिक के लिए इससे भी अधिक समझना चाहिए। सर्वविरति सामायिक मे पूर्ण समभाव की आवश्यकता रहती है।

सामायिक अथवा समभाव का फल क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है कि सामायिक से समभाव की प्राप्ति होती है और समभाव से सावद्य योग से निवृत्ति होती है। मन, वचन और काय के योग से जो पाप होते है, वह सावद्य योग कहलाते है। यह सावद्य योग सामायिक से दूर हो जाता है।

सामायिक का फल बतलाते हुए अनुयोगद्वार सूत्र मे तथा अन्यत्र भी कहा गया है:–

जस्स सामाणिओ अप्पा, संजमे नियमे तवे।
तस्स सामाइयं होइ, इह केवलि भासियं।।
जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य।
तस्स समाइअं होइ, इह केवलि भासियं।।

इन गाथाओ का आशय यह है कि समभाव से व्यवहार करने वाले के ही तप–नियम–संयम आदि सफल होते है। समभाव के अभाव में तप और नियम आदि सफल नही होते। तप करना और दूसरों को कष्ट देना, संयम लिया मगर दूसरों पर हुकूमत चलाई, तो वह तप और संयम समभाव विहीन है। तप–सयम की सच्ची सफलता समभाव की विद्यमानता मे ही है।

सामायिक की अवस्था में आक्रमणकारी पर भी क्रोध नही आना चाहिए। क्रोध न आवे तो समझ लीजिए कि मैं भगवान् के कथनानुसार समभाव का पालन कर रहा हूं। इसके विरुद्ध अगर क्रोध भड़क उठता है तो ज्ञानी कहते है–अभी तुझमे संयम नही आया क्योंकि तू समभाव से दूर है। सयम तो समभावपूर्वक ही होता है। समभाव के अभाव मे संयम टिक ही नहीं सकता। इस प्रकार सामायिक करते समय क्रोध भी नही करना चाहिए और प्रतिष्ठा मिलने पर अभिमान भी नहीं करना चाहिए। जब कोई नमस्कार करे तो समझना चाहिए कि यह नमस्कार मुझे नहीं, मेरे समभाव को है। अतएव मुझे तो समभाव की ही रक्षा करनी चाहिए। अहंभाव समभाव के विरुद्ध है अतएव अहभाव का तो त्याग करना ही चाहिए। जब मन मे अहंभाव आवे तो समझना चाहिए कि अभी तक मुझ मे समभाव नही आया है।

कहने का आशय यह है कि प्रत्येक कार्य मे सामायिक की आवश्यकता है अर्थात् समभाव रखने की आवश्यकता है। समभाव के बिना किसी भी कार्य

वास्तव मे जूआ खेलना दुनिया के लिए अत्यन्त अहितकर है। इसी कारण शास्त्र मे उसे महाप्रमाद कहा है। इसी प्रकार संसार के समस्त मनुष्य अगर चोरी करने लगे तो दुनिया का काम कैसे चल सकता है? क्या उस स्थिति मे ससार दुःखो से व्याप्त नही हो जायेगा? इसी कारण ऐसे कृत्य निन्दित माने गये है। इसी तरह के अन्यान्य कार्य भी सावर्ज्य कार्य है। निद्य कार्य त्याज्य ही है। अतएव निन्दित कार्यो का त्याग करके अनिन्दित कार्य करोगे तो समभाव की रक्षा होगी और आत्मकल्याण भी हो सकेगा। समभाव की रक्षा करने से सावद्य योग की निवृत्ति अवश्य होती है। अतएव सावद्य योग से निवृत्त होओ और समभाव की रक्षा करो। इसी मे कल्याण है।

सावद्य योग से निवृत्त होने के लिए आत्मा को किसी आलम्बन की आवश्यकता रहती है। एक वस्तु से निवृत्त होने के लिए दूसरी वस्तु का अवलम्बन लेना जरूरी है। दूसरी का अवलम्बन लिए बिना एक से निवृत्त होना कठिन है। उदाहरणार्थ–आप लोग शाकाहारी हैं इसलिए मांसाहार से बचे हुए है। अगर आपको शाकाहार प्राप्त न होता तो मांसाहार से बचना क्या सम्भव था? इस प्रकार दूसरी वस्तु सामने उपस्थित हुए बिना किसी का त्याग नही किया जा सकता। यद्यपि उपदेश तो निराहारी बनने का दिया जाता है परन्तु वह अवस्था सहसा प्राप्त नही हो सकती। अतएव सर्व प्रथम मांसाहार से बचना आवश्यक है। मांसाहार से बचने का उपाय यही है कि शाकाहार प्रस्तुत हो। शाकाहार का अवलम्बन लेना भी मांसाहार छोडने का और धीरे–धीरे निराहारी बनने का एक मार्ग है। महारम्भी वस्त्र का त्याग करने के लिए अल्पारम्भी वस्त्र का आलम्बन लिया जाता है। इसी प्रकार जब सावद्य योग से निवृत्त होना हो तो निरवद्ययोग का अवलम्बन लेना आवश्यक हो जाता है। परमात्मा की प्रार्थना करना निरवद्य कार्य है। यह निरवद्य कार्य सावद्य योग का त्याग करने के लिए आलम्बनभूत है।

वास्तव मे जूआ खेलना दुनिया के लिए अत्यन्त अहितकर है। इसी कारण शास्त्र मे उसे महाप्रमाद कहा है। इसी प्रकार संसार के समस्त मनुष्य अगर चोरी करने लगें तो दुनिया का काम कैसे चल सकता है? क्या उस स्थिति मे ससार दुःखो से व्याप्त नही हो जायेगा? इसी कारण ऐसे कृत्य निन्दित माने गये है। इसी तरह के अन्यान्य कार्य भी सावर्ज्य कार्य है। निद्य कार्य त्याज्य ही है। अतएव निन्दित कार्यो का त्याग करके अनिन्दित कार्य करोगे तो समभाव की रक्षा होगी और आत्मकल्याण भी हो सकेगा। समभाव की रक्षा करने से सावद्य योग की निवृत्ति अवश्य होती है। अतएव सावद्य योग से निवृत्त होओ और समभाव की रक्षा करो। इसी मे कल्याण है।

सावद्य योग से निवृत्त होने के लिए आत्मा को किसी आलम्बन की आवश्यकता रहती है। एक वस्तु से निवृत्त होने के लिए दूसरी वस्तु का अवलम्बन लेना जरूरी है। दूसरी का अवलम्बन लिए बिना एक से निवृत्त होना कठिन है। उदाहरणार्थ–आप लोग शाकाहारी है इसलिए मांसाहार से बचे हुए है। अगर आपको शाकाहार प्राप्त न होता तो मांसाहार से बचना क्या सम्भव था? इस प्रकार दूसरी वस्तु सामने उपस्थित हुए बिना किसी का त्याग नही किया जा सकता। यद्यपि उपदेश तो निराहारी बनने का दिया जाता है परन्तु वह अवस्था सहसा प्राप्त नहीं हो सकती। अतएव सर्व प्रथम मांसाहार से बचना आवश्यक है। मांसाहार से बचने का उपाय यही है कि शाकाहार प्रस्तुत हो। शाकाहार का अवलम्बन लेना भी मांसाहार छोड़ने का और धीरे–धीरे निराहारी बनने का एक मार्ग है। महारम्भी वस्त्र का त्याग करने के लिए अल्पारम्भी वस्त्र का आलम्बन लिया जाता है। इसी प्रकार जब सावद्य योग से निवृत्त होना हो तो निरवद्ययोग का अवलम्बन लेना आवश्यक हो जाता है। परमात्मा की प्रार्थना करना निरवद्य कार्य है। यह निरवद्य कार्य सावद्य योग का त्याग करने के लिए आलम्बनभूत है।

अर्थक्रिया की सिद्धि नहीं होती और अभेद नाम से अर्थक्रिया सिद्ध होती है। थाली में भोजन के नाम से पत्थर जैसी कोई वस्तु रख दी जाये तो उससे क्षुधा शान्त नही होती, क्योंकि वह भोजन अभेद नाम नही वरन् भेद नाम है। भेद नाम वाले भोजन से भूख नहीं मिट सकती। इस प्रकार के भेद नाम से अर्थक्रिया की सिद्धि नहीं होती। अर्थक्रिया तो अभेद नाम से ही सिद्ध होती है। यह नामस्तवन की बात हुई।

इसी प्रकार तीर्थकरों का नाम लिखकर उन नामों में स्थापना की जाय या मूर्ति में उनकी स्थापना की जाय तो हम उसे भेदनिक्षेप से तो मानते है, मगर अभेद निक्षेप से नहीं। इसी प्रकार इस तरह की नामस्थापना को वन्दना भी नही कर सकते। हम अभेद निक्षेप को ही वन्दन करते हैं। भेद निक्षेप को हम स्वीकार तो करते हैं किन्तु अर्थक्रिया की सिद्धि तो अभेदनिक्षेप से ही हो सकती है और इसलिए अभेद को ही नमस्कार करते हैं।

अब द्रव्य तीर्थकर की बात लीजिए। जो चौबीस तीर्थकर हो चुके है, वे जब तक केवली नहीं हुए थे, वरन् राजा अवस्था में थे, तब तक द्रव्य तीर्थकर थे। ऐसे द्रव्य तीर्थकरों का स्तवन करना द्रव्य स्तवन है। हम द्रव्य तीर्थकर को नमस्कार नही करते और न उनका स्तवन ही करते हैं, किन्तु जब उनमे तीर्थकर के योग्य गुण प्रकट हो जाते है तभी उन्हें नमस्कार करते हैं और तभी उनका स्तवन करते है।

तीर्थकरों को किस प्रयोजन से नमस्कार किया जाता है अथवा उनका स्तवन किसलिए किया जाता है, यह बात प्रतिक्रमण में बोली जाती है।

लोगस्स उज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे।
अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसं पि केवली।।

अर्थात्–चौबीस तीर्थकर भगवान् लोक में उद्योत करने वाले हैं, मैं उनका स्तवन करता हूं। ऐसा होने पर भी जब तक प्रकाश नहीं होता तब तक वह वस्तु दिखाई नही देती। प्रकाश होने पर ही वस्तु प्रत्यक्ष दिखाई देती है। भगवान् पंचास्तिकाय रूप लोक को प्रकाशित करने वाले हैं। हम लोग भगवान् के ज्ञान–प्रकाश से ही पंचास्तिकाय को जान पाते हैं।

श्रीभगवतीसूत्र में मंडूक श्रावक का प्रकरण आता है। उसमें कहा गया है कि मंडूक श्रावक को कालोदधि ने पूछा था–'तुम्हारे भगवान् महावीर पचास्तिकाय का प्रतिपादन करते है। उनमें से चार को अरूपी और एक

है, उन्हें भी मै नमस्कार करता हू। ऐसे अरिहन्त भगवान् चौबीस हैं और वे सम्पूर्ण ज्ञान के स्वामी है।

चौबीस तीर्थकरो का स्तवन तो बहुत से लोग करते है, किन्तु स्तवन के गुण भलीभांति समझकर स्तवन किया जाय तो सब प्रकार की शकाए निर्मूल हो जाती है। चौबीस तीर्थकरो की स्तुति करने का फल बतलाते हुए भगवान् ने कहा है कि चौबीस तीर्थकरो की स्तुति करने से दर्शन की विशुद्धि होती है। इस कथन का आशय यह है कि चौबीस तीर्थकरो का स्तवन करने से स्तवन करने वाले का सम्यक्त्व इतना निर्मल हो जाता है कि देवता भी उसे सम्यक्त्व से विचलित नही कर सकते। अर्थात् उसका दर्शन अन्यन्त निर्मल और प्रगाढ़ हो जाता है। दर्शन की विशुद्धि करने के लिए चौबीस तीर्थकरो का स्तवन निरन्तर करते रहना चाहिए। कदाचित् स्तवन का फल प्रत्यक्ष या तत्काल दृष्टिगोचर न हो तो भी उसी प्रकार स्तवन करते रहना चाहिए। दवा का फल प्रत्यक्ष दिखाई नही देता फिर भी वैद्य पर विश्वास करके रोगी उसका सेवन करता रहता है और आगे चलकर दवा अपना गुण प्रकट करती है, इसी प्रकार भगवान् के कथन पर विश्वास रखकर तीर्थकरो का स्तवन करते रहोगे तो दर्शन की प्राप्ति अवश्य होगी। मोह और मिथ्यात्व का अवश्य ही विनाश होगा। शास्त्र में कहा है--

'सद्धा परम दुल्लाहा' अर्थात्--श्रद्धा बहुत दुर्लभ है।

यह कथन उस श्रद्धा के विषय मे है, जो श्रद्धा "जीवित" होती है। जैसे मुर्दा मनुष्य किसी काम का नही समझा जाता, उसी प्रकार मरी हुई श्रद्धा भी किसी काम की नही होती। अगर किसी मनुष्य मे मुर्दापन आता दिखाई देता है तो उसे दवा देकर स्वस्थ किया जाता है, इसी प्रकार अगर आपकी श्रद्धा मे मुर्दापन आ रहा हो तो उसे भी चौबीस जिनो की स्तुति द्वारा जीवित बनाओ। ऐसा करने से श्रद्धा गुण की प्राप्ति होगी। अतएव चौबीस तीर्थकरो की स्तुति करने मे वीरता और धीरता रखो। उदासीनता का त्याग करो।

थी और इसी कारण वदना के फल के सबध मे भगवान् से प्रश्न किया गया है। भगवान् ने वदना आवश्यक का बहुत फल प्रकट किया है। वदना के 25 आवश्यक बतलाये गये है। वे पचचीस आवश्यक क्या है, इस विषय मे कहा है:–

दुयो णय अहाजायं कीयग्गं वारसावस्सयं होई।
चउ सीरं तिगुत्तं च, दुप्पवेसं एग निक्खमणं।।

वदना के पचचीस आवश्यको का निरूपण इस प्रकार किया गया है–दो बार नमन कीर्त्तिकर्म अर्थात् वदना आवश्यक, एक यथाजात आवश्यक, बारह आवर्त्तन आवश्यक, चार मस्तक–नमन के आवश्यक, तीन गुप्ति धारण करना आवश्यक, दो बार गुरु के अविग्रह मे प्रवेश करना आवश्यक और एक बार गुरु के अविग्रह मे से निकलना आवश्यक। इन पच्चीस आवश्यकों के होने पर ही वदना पूर्ण होती है।

यहा यह देखना है कि इन पच्चीस आवश्यकों का अर्थ क्या है? साध्वी या अन्य स्त्री गुरु से सत्ताईस हाथ दूर रहे और शिष्य या अन्य पुरुष साढे तीन हाथ दूर रहे, यह गुरु का अविग्रह–क्षेत्र है। अगर स्थान का संकोच न हो तो गुरु से पुरुष या शिष्य साढे तीन हाथ और साध्वी या स्त्री सत्ताईस हाथ की दूरी पर रहकर, विनीत भाव से, नीची दृष्टि करके, हाथ मे ओघा और मुख पर मुखवस्त्रिका सहित, गुरु को नमस्कार करते हुए 'खमासमणो' का यह पाठ बोलते है–

इच्छामि खमा समणो वंदिउं।

अर्थात्–हे क्षमाश्रमण! मै आपको वदना करने की इच्छा करता हू।

कहा जा सकता है कि जब वदन करने की इच्छा है ही तो इस प्रकार कहने की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इस प्रकार कहने वाले व्यक्ति को गुरु के अविग्रह में प्रवेश करना है, अतएव वह गुरु की स्वीकृति चाहता है। अविग्रह के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से चार भेद है। इन सब का यहा वर्णन न करते हुए सिर्फ इतना कह देना आवश्यक है कि गुरु के क्षेत्र अविग्रह मे प्रवेश करना है, इसी हेतु गुरु की स्वीकृति ली जाती है। गुरु को इच्छापूर्वक नमस्कार करना चाहिए। नमस्कार करने मे उद्धतता होना उचित नही है और इसी कारण आचार्य के क्षेत्र–अविग्रह मे प्रवेश करने की स्वीकृति ली जाती है। अगर आचार्य अविग्रह मे प्रवेश करने की स्वीकृति देना चाहते होगे तो वे 'छदेण अर्थात् जैसी तुम्हारी इच्छा' कहेगे। अगर वे अविग्रह मे प्रवेश करने की स्वीकृति नही देना चाहते होगे तो

ही न किया जाय? एक कौडी भी वृथा खर्च न करना ठीक हो सकता है किन्तु आवश्यकता पडने पर भी खर्च न करना कृपणता है। इसी प्रकार गुरु को कष्ट न हो, इस बात का ध्यान रखना तो उचित है मगर उन्हें कष्ट होने के विचार से चरणों का स्पर्श ही न करना अनुचित है। गुरु को कष्ट हो, इस प्रकार से उनके चरणो का स्पर्श करना यद्यपि अनुचित है, फिर भी चरणस्पर्श किया जाता है और ऐसा करने में किसी अंश में, गुरु को कष्ट पहुँच जाना शक्य और सम्भव है, इसी कारण यह कहा गया है कि हे गुरु देव आपके चरणो का स्पर्श करने मे आपको जो कोई कष्ट हुआ हो, उसके लिए क्षमा कीजिए। आप क्षमासागर है, अतः मेरा अपराध भी क्षमा करें।

'अहोकायं कायसंफासियं' इन शब्दों का ह्रस्व–दीर्घ रीति से उच्चारण करके चरणस्पर्श करना चाहिए और फिर क्षमायाचना करके गुरु को हाथ जोडकर, नमस्कार करके इस प्रकार कहना चाहिएः–

बहुसुभेणं भे! दिवसो वइकन्तो? जत्ता भे! जवणिज्जं च भे !

इस पाठ में देवसी, रायसी, पक्खी, चौमासी या संवत्सरी का जो दिन हो, उसका उच्चारण करना चाहिए। इस पाठ का अर्थ यह है–हे गुरु भगवन्! दिवस, रात्रि, पक्खी, चौमासी या संवत्सरी का काल आनन्दपूर्वक व्यतीत हुआ? इस प्रकार गुरु से कुशल–प्रश्न पूछना चाहिए। फिर 'जत्ता भे' इतना कहकर पहला आवर्त्तन, 'जवणि' कहकर दूसरा और 'ज्जं च भे' कहकर तीसरा आवर्त्तन करना चाहिए।

इन तीन आवर्त्तनो के समय उच्चारण किये हुए अक्षरों में से 'जत्ता भे' का अर्थ यह है कि–'हे गुरु महाराज! मूल गुण और उत्तर गुण रूपी आपकी संयमयात्रा तो आनन्दपूर्वक चलती है न? 'जवणिज्जं' का अर्थ यह है कि आप इन्द्रियो का और मन का दमन तो बराबर करते हैं न? 'ज्जं च भे' का आशय यह कि 'हे गुरु देव! आपकी सयमयात्रा, आपके इन्द्रियदमन और आपकी यतना को मै स्वीकार करता हू।'

गुरु को आवर्त्तन करने का उद्देश्य क्या है? किस हेतु से आवर्त्तन करना चाहिए? इन प्रश्नों का निर्णय करने के लिए यह विचार करना चाहिए कि वर और कन्या अग्नि की प्रदक्षिणा किस लिए करते है? वर–कन्या जब तक अग्नि की प्रदक्षिणा नही करते तब तक वे कुवारे समझे जाते है। अग्नि की प्रदक्षिणा करने के अनन्तर आर्य बाला प्राणो का उत्सर्ग कर सकती है पर नियम का भग नही करती। स्त्रियां अपनी मर्यादा का इतना ध्यान रखती है तो क्या पुरुषो को मर्यादा का पालन नही करना चाहिए?

आज वंदना की यह विधि कदाचित् ही दिखाई देती है, अतएव वंदनाविधि जानने का और विधिपूर्वक वदना करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार विधिपूर्वक की जाने वाली थोडी भी वदना अधिक लाभदायक सिद्ध होती है। जिन लोगों ने विधिपूर्वक युद्ध करने की शिक्षा प्राप्त की है, वे संख्या मे थोडे होने पर भी विधिपूर्वक युद्ध करके विजयी होते है और अशिक्षित योद्धा बहुसंख्यक होने पर भी हार जाते है। इसी प्रकार विधिरहित बहुत वदना की अपेक्षा विधियुक्त अल्प वदना अधिक फलदायक होती है। इसलिए वदना की विधि सीखने की आवश्यकता है। प्राचीन काल के लोग विधिपूर्वक ही वंदना करते थे। आप लोग वंदना की विधि सीखकर, विधिपूर्वक वदना करेगे तो आपका कल्याण होगा।

विधिपूर्वक वदना करने से क्या फल मिलता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने फरमाया है कि विधिपूर्वक वंदना करने से जीव नीच गोत्र–कर्म का क्षय करके उच्चगोत्र का बध करता है।

भगवान ने जो उत्तर दिया है, उसके विषय में यह समझ लेना आवश्यक है कि उच्चगोत्र किसे कहते है? और नीचगोत्र–कर्म क्या है? आजकल नीचगोत्र और उच्चगोत्र कर्म का अर्थ समझने में भूल होती है और इससे अनेक लोग भ्रम में पड गये है। वीरमगॉव मे मुझ से प्रश्न किया गया था कि शास्त्र मे उच्च और नीच गोत्र का नाम आता है? मैने कहा–हॉ, शास्त्र मे दोनो का नाम आता है। तो उच्च गोत्र उच्च होगा और नीच गोत्र नीच होगा? उत्तर मे मैंने कहा–तुम इस प्रकार तो कहते हो पर शास्त्र में कहीं ऐसा आया हो तो बताओ कि किसी मनुष्य को छूना नही चाहिए! इसके अतिरिक्त नीचगोत्र क्षय किया जाता है या उसकी रक्षा की जाती है? जब नीचगोत्र क्षय किया जाता है तो वह नीच गोत्र ही बना रहता है, यह कैसे कहा जा सकता है? नीच गोत्र वाला उच्च गोत्री भी बन सकता है।

गोत्र का अर्थ करते हुए कहा गया है:–

गां वाणी त्रायते रक्षति इति गोत्रः।

'गो' शब्द के अनेक अर्थ होते है। यहा 'गो' शब्द का अर्थ वाणी है और 'त्र' शब्द का अर्थ पालन करना है। इस प्रकार गोत्र का अर्थ वाणी का पालन करना होता है। इस अर्थ के अनुसार श्रेष्ठ पुरुषो की वाणी का पालन करने वाला उच्चगोत्री है और नीच पुरुषो की वाणी का पालन करने वाला नीचगोत्री कहलाता है।

प्रकार स्वार्थसिद्धि के लिए तो वंदना की ही जाती है किन्तु यहां जिस वंदना की चर्चा चल रही है, वह ऐसी नहीं होनी चाहिए। वह गुणों की वंदना होनी चाहिए। गुण देखकर उन्हें प्राप्त करने के लिए की जाने वाली वंदना ही सच्ची वंदना है। इस प्रकार की वंदना से अहंकार पर विजय प्राप्त की जा सकती है और परमात्मा से भेंट हो सकती है।

आज वंदना करने में भी पक्षपात किया जाता है। अर्थात् यह कहा जाता है कि वे हमारे हैं अतएव उन्हें मै वंदना करता हू और अमुक मेरे नहीं है, अतः मै उन्हें वंदना नहीं करता। वंदना करने में भी इस प्रकार का पक्षपात चलाया जाता है। छद्मस्थ पक्षपात से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता, लेकिन वह पक्षपात तेरे–मेरे का नही होना चाहिए, वरन् पक्षपात गुणों के प्रति होना चाहिए और यह देखना चाहिए कि उनमें वंदना करने योग्य गुण हैं या नहीं।

शास्त्रों का कथन है कि तुम उन्हीं को वंदना करो, जिनमें संयम आदि गुण है। जिनमें यह गुण नहीं है, उन पासत्था आदि को शास्त्रकारों ने वदना न करने का विधान किया है। शास्त्र को पासत्था, कुशील या स्वच्छन्दाचारी लोगों के प्रति द्वेष नहीं है, किन्तु शास्त्र ने उन्हें वंदना करने वालो को भी यह सूचना कर दी है कि पासत्था आदि को वंदना करना उन्हें और अधिक पतित करने के समान है। अगर आप उन्हें वंदना करेंगे तो वे विचार करेंगे–लोग हमें वंदना तो करते ही है, फिर यदि संयम का पालन न किया तो भी क्या हर्ज है? इस प्रकार विचार कर वे लोग अधिक पतित हो जाते है। अतः ऐसे लोगों को वंदना करना उन्हें अधिक पतित करने के समान है। वंदना गुणों के लिए ही की जाती है, अतः जिनमें संयमादि गुण हों उन्हीं को वंदना करना उचित है। जिन्होंने संयमादि गुणों को स्वीकार किया है, किन्तु जो उन्हे अपने जीवन में उतारते नहीं है, उन पासत्था आदि को वंदना करना अपने को और उनको पतित करने के समान है।

संबोधसत्तरी में कहा है–

पासत्थं वंदमाणस्स नेव किति न निज्जरा होइ।
होई कायकिलेसो, अण्णाणं बंधई कम्मं।।

अर्थात् जो ज्ञान, दर्शन और चरित्र आदि गुणो को धारण तो करता है, परन्तु उनका निर्वाह नही करता, उसे पासत्था कहते है। ऐसे (पार्श्वस्थ) लोगो को और इसी कोटि के कुशील और स्वच्छन्दी लोगों को वंदना करना अनुचित है। कतिपय लोगो का कहना है कि हमे राग–द्वेष नही रखना चाहिए और सभी को वंदना करनी चाहिए। मगर यह कथन ठीक नहीं है। राग–द्वेष

गोत्र की व्याख्या पहले की जा चुकी है। श्रेष्ठ पुरुषों की वाणी का पालन करने वाला उच्चगोत्री है और नीच पुरुषो की वाणी का अनुसरण करने वाला नीचगोत्री है। किसी–किसी कुल में अमुक प्रसंगो पर मदिरापान करने की परम्परा होती है। ऐसे नीच सस्कार का आचरण करना नीचगोत्र होने का कारण है। इसी प्रकार किसी के कुल मे ऐसी पद्धति होती है कि अमुक प्रसंग पर कोई शुभ कृत्य करना ही चाहिए। यह उच्च या श्रेष्ठ वाणी का आचरण है। इस प्रकार जो जैसो की वाणी का पालन करता है, उसके कुल मे संस्कार भी प्रायः वैसे ही बन जाते है और उस वाणी के पालन करने के आधार पर ही वे उच्चगोत्र के अथवा नीच गोत्र के माने जाते है। उच्चगोत्र वालों के कुल के संस्कारो से आत्मा उन्नत बनता है, अवनत नहीं बनता। किसी कुल के सस्कार ऐसे भी होते है कि उनकी बदौलत उन्हें अच्छी बात रुचिकर नहीं होती और पाप–कृत्यों के प्रति घृणा नहीं होती। किसी कुल के संस्कार ऐसे होते है कि चाहे जो हो पर उस कुल में जन्मने वाले पापकार्यो में प्रवृत नहीं होते। उदाहरणार्थ--तुम्हारे सामने कोई लाख रुपयों की थैली रख दे तो भी तुम बकरे की गर्दन पर छुरी फेरने को तैयार नही होओगे। यह उच्चगोत्र और कुल सस्कारो का ही प्रभाव है। कभी--कभी उच्च गोत्र वालों में भी बुरी बात घुस जाती है। जैसे तुम लोगो को बकरा मारने में जैसी घृणा है, वैसी ही घृणा क्या असत्य भाषण और व्यभिचार के प्रति भी है?

प्राचीन काल मे व्यभिचार, हिंसा से भी अधिक बुरा माना जाता था। मगर आजकल व्यभिचार के प्रति उतनी घृणा नहीं देखी जाती। महाशतक श्रावक की पत्नी रेवती हिंसा का क्रूर कर्म करती थी, फिर भी माहशतक ने उसे घर से बाहर क्यों नहीं निकाल दिया था? इसका कारण मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि महाशतक यह विचार करता था कि रेवती का खानपान खराब है लेकिन मुझ पर इसका अनुराग है और वह व्यभिचार से बची हुई है। अगर मैं उसे बाहर कर दूंगा तो वह और अधिक बिगड़ जायगी और सम्भव है व्यभिचार आदि के पापों में भी पड जाय! इस प्रकार विचार कर उसने स्वय तो मांसभक्षण का आदर नही किया, किन्तु रेवती को व्यभिचार आदि पापो से बचाने के लिए घर से बाहर भी नहीं निकाला। इस तरह पहले के जमाने मे व्यभिचार हिंसा से बडा पाप माना जाता था।

आशय यह है कि वंदना करने से नीचगोत्र का क्षय होता है और उच्च गोत्र का बंध होता है। कितनेक लोगो का कहना है कि किये हुए कर्म एकान्तत भोगने ही पडते है, लेकिन कृत कर्म अगर बदल न सकते या क्षीण

देव को ही दृढ़धर्मी कामदेव के आगे झुकना पड़ा था। आप भी ऐसे ही धर्मदृढ़ता धारण करे। ढीले बने रहने से काम नहीं चलता। धर्म मे अटल श्रद्धा और दृढ़ता धारण करने से ही कल्याण हो सकता है।

वदना के प्रताप से आत्मा के अनेक विकार दूर हो जाते है और विकार दूर हो जाने पर मन, वचन, और काय की शुद्धि होती है और आत्मा को शान्ति प्राप्त होती है। अतएव अगर आप पूर्ण आत्मशान्ति प्राप्त करना चाहते है और सुभागी बनना चाहते हैं तो गुरु को विधिपूर्वक वंदना करके ऐसा समझो कि यह सब गुरु के चरणो का ही प्रताप है। व्यवहार में तो कहते ही हो कि यह सब गुरुचरणों का ही प्रताप है, लेकिन हृदय में भी यही कहो और गुरु को विधिपूर्वक वंदना करो। साधारणतया साधुजन प्रत्येक बात उपदेश रूप मे ही कहते है—आदेश रूप में नहीं। फिर आज आपको जो कुछ भी शुभ संयोग मिला है, वह किसी महात्मा की कृपा से ही मिला है। यह बात ध्यान में रखकर गुरु को विधिपूर्वक वंदना करोगे तो आत्मा को पूर्ण शान्ति प्राप्त होगी और आत्माकल्याण होगा।

है और जब दोष नही लगता तो प्रतिक्रमण नहीं करते। मगर प्रथम और अंतिम तीर्थकरो के साधुओ को तो प्रतिक्रमण करना ही चाहिए।

अब विचार करना है कि प्रतिक्रमण का अर्थ क्या है ? दूसरे लोग जिस प्रकार सध्या–वंदन आदि करते है, वही स्थान जैनदर्शन में प्रतिक्रमण का है परन्तु संध्यावंदन और प्रतिक्रमण में भेद है। प्रतिक्रमण का स्वरूप और उसका उद्देश्य बतलाते हुए कहा है–

स्वस्थानात् परस्थानं प्रमादस्य वशाद् गतं,
तत्रैव क्रमणं भूयः प्रतिक्रमणमुच्यते।।
क्षायोपशमिकाद् भावादौदयिकस्य वशंगतः
तत्रापि च स एवार्थः प्रतिकूलं गमात्स्मृतः।।

पुरुष जिस स्थान से स्खलित हुआ हो, उसी स्थान पर उसका फिर आ जाना प्रतिक्रमण कहलाता है। जो आत्मा स्व–स्थान का त्याग करके, प्रमाद के वश होकर पर–स्थान में चला गया हो, उसे फिर स्वस्थान में लाना प्रतिक्रमण है। जैसे कोई बालक अपना घर छोड़कर दूसरे के घर चला जाय तो उसे वापस अपने घर लाया जाता है। इसी प्रकार आत्मा जब अपने स्थान से, दूसरे स्थान पर चला गया हो तो उसी को प्रतिक्रमण द्वारा अपने स्थान पर लाया जाता है।

घर में से चली गई इष्ट वस्तु को फिर अपने घर लौटा लाने का प्रयत्न सारा ससार करता है। आप लोग तिजोरी में से रुपया निकाल देते हैं किन्तु आपका प्रयत्न तो यही रहता है कि निकाला हुआ रुपया ब्याज सहित लौटकर आवे। रुपया लौटकर आयेगा, इस आशय से आप उसे छोड़ नहीं देते। जिस रुपये की आशा छोड़ दी जाती है, वह जुआ में लगाया हुआ समझा जाता है। जिसमें लगाया रुपया लौटकर वापस नहीं आता वह जूआ है, व्यापार नही। व्यापार तो वही माना जाता है जिसमें लगाया रुपया ब्याज के साथ वापस लौटता है। इस प्रकार सभी लोग यह चाहते हैं कि जो इष्ट वस्तु हमारे यहां से गई है, वह वापस लौट आवे। सारा संसार इसी प्रयत्न मे सलग्न है।

स्वस्थान से चला गया आत्मा प्रतिक्रमण द्वारा फिर स्वस्थान पर लाया जाता है । प्रतिक्रमण द्वारा आत्मा को फिर स्वस्थान पर लाने से आत्मा के भाव अपूर्व हो जाते है। आत्मा के भाव क्षयापशमिक, औपशमिक और क्षायिक है। इन भावो से अलग होकर आत्मा का औदयिक भाव में जाना

उन्हे अपने व्रतों की सदैव सार–सम्भाल रखनी चाहिए और व्रतो में पड़े हुए छिद्रों को प्रतिक्रमण द्वारा सांधते रहना चाहिए।

आप अपने कपड़ो में जब छेद देखते है तो उसे सांध कर बन्द कर देते है, तो फिर व्रतो में पड़े हुए छिद्रों को बन्द करने मे कौन बुद्धिमान् पुरुष विलम्ब करेगा? जो बुद्धिमान् होगा और जो अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहता होगा वह अपने व्रतों में पडे हुए छिद्रों को प्रतिक्रमण द्वारा तत्काल बन्द कर देगा। नौका मे छेद हो गया हो और उस छेद के रास्ते नौका में पानी भर रहा हो तो क्या कोई बुद्धिमान पुरुष उस छेद को बना रहने देगा? छेद बन्द न किया तो उसके द्वारा नौका में पानी भर जायेगा और परिणाम यह होगा कि नौका डूब जायेगी। इसी प्रकार अगर व्रतों में हुए छिद्र बन्द न कर दिये जाए तो आस्रव रूपी पानी भरे बिना नहीं रहेगा और फलस्वरूप व्रत रूपी नौका डूब जायेगी। अतएव जैसे मकान में से पानी न टपकने देने का ख्याल रखा जाता है, उसी प्रकार अपने व्रतों की भी संभाल रखनी चाहिए। जब कभी व्रतो मे छिद्र दिखाई दे तो उसे तत्काल बन्द कर देना चाहिए।

मल्ल कुश्ती लडने के बाद और वीर योद्धा युद्ध करने के बाद सध्या के समय अपनी शुश्रूषा करने वाले को बतला देता है कि आज सारे दिन मे मुझे अमुक जगह चोट लगी है और अमुक जगह मुझे दर्द हो रहा है। जब मल्ल या योद्धा अपना दर्द बता देता है तो शुश्रूषा करने वाला सेवक औषध या मालिश द्वारा उस दर्द को मिटा देता है और दूसरे दिन मल्ल कुश्ती करने के लिए और योद्धा युद्ध करने के लिए तैयार हो जाता है। इसके विपरीत मल्ल या योद्धा अपना दर्द शुश्रूषा करने वाले सेवक के आगे प्रकट न करे बल्कि छिपा ले तो उसका दर्द दूर न होगा और नतीजा यह होगा कि मल्ल कुश्ती करने और योद्धा युद्ध करने के लिए फिर जल्दी तैयार नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार जो साधु दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण में अपने व्रतों की सारणा–वारणा कर लेता है और लगे हुए दोषों को प्रतिक्रमण द्वारा दूर कर देता है, वह साधु निश्चित रूप से अपने कर्मो को जीत लेता है।

कहने का आशय यह है कि प्रतिक्रमण द्वारा आस्रव रूपी पानी आने का छिद्र ढक जाता है और प्रतिक्रमण करने वाला निरुद्ध–आस्रव बन जाता है। निरुद्ध–आस्रव होने से उसका चारित्र भी असबल अर्थात् निर्मल रहता है। सबल का अर्थ है–मलीन–खराब। किसी वस्तु मे दाग लग जाने से खराबी आ जाती है, उसे सबल कहते है। दाग वाली वस्तु अच्छी नही कहलाती। व्रतो

5 कायोत्सर्ग

आत्मशुद्धि के लिए प्रतिक्रमण के विषय में कहा जा चुका है। प्रतिक्रमण के पश्चात् कायोत्सर्ग किया जाता है। तात्पर्य यह है कि प्रतिक्रमण करते समय व्रतो के अतिचार रूपी घाव देखकर, उन्हे बन्द करने के लिए कायोत्सर्ग रूपी औषध लगाई जाती है। जिस प्रकार मैले कपडे धोये जाते है और उनका मैल दूर किया जाता है, उसी प्रकार आत्मा के व्रत रूपी वस्त्र पर अतिचार रूपी जो मैल चढ़ गया है, उसे साफ करने के लिए कायोत्सर्ग रूपी जल से धोना पडता है। यही कायोत्सर्ग है। जिस किसी उपाय से शरीर को नष्ट कर डालना ही कायोत्सर्ग नही है, वरन् शरीर संबंधी ममता को त्याग देना ही सच्चा कायोत्सर्ग है।

कायोत्सर्ग के विषय में भगवान से प्रश्न किया गया है–

प्रश्न–काउसग्गेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर–काउसग्गेणं तीयपडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ, विसुद्ध पायच्छित्ते य जीवे निव्वुय हियए ओहरियभरुव्व भारवहे पसत्थधम्मझाणोवगए सुहं सुहेणं विहरइ।

अर्थात्

प्रश्न–भगवन् ! कायोत्सर्ग करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर–कायोत्सर्ग करने से भूतकाल के और वर्तमानकाल के अतिचारो को प्रायश्चित्त द्वारा विशुद्ध किया जाता है और इस प्रकार शुद्ध हुआ जीव, जैसे सिर का बोझ उतरने से मजदूर सुखी होता है, उसी प्रकार अतिचार रूपी बोझ उतर जाने से उत्तम धर्मध्यान मे लीन होता हुआ, इहलोक और परलोक में सुखी होता है और अनुक्रम से मोक्ष–लाभ करता है।

कायोत्सर्ग करने से जीव को क्या लाभ होता है इस प्रश्न के उत्तर में ऊपर भगवान् ने जो फरमाया है, उस पर विचार करने से पहले यह देख

है और यदि इस उपसर्ग से बच जाऊँ तो मेरा यह कायोत्सर्ग जीवनभर के लिए नहीं है।

कहा जा सकता है कि यह कायोत्सर्ग तो 'वृद्धा नारी पतिव्रता' की उक्ति चरितार्थ करता है। अर्थात् उपसर्ग से न बचे तो त्याग है, बच गये तो त्याग नही है। भला यह भी कोई त्याग है? इसके उत्तर मे कहा जा सकता है कि उपसर्ग के समय इस प्रकार का त्याग करने से, उपसर्ग के कारण पर क्रोध नहीं भड़कता। कायोत्सर्ग करने के बाद, उपसर्ग के कारण के प्रति इस प्रकार का क्रोध नही होता कि 'मैने इसका क्या बिगाडा था कि यह मुझे कष्ट पहुंचा रहा है'। जब उपसर्ग के कारण पर क्रोध नही आता और उपसर्ग दाता पर भी शान्तभाव बना रहता है, तभी कायोत्सर्ग ठीक रह सकता है। कायोत्सर्ग करने पर भी यदि उपसर्ग करने वाले के प्रति क्रोध उत्पन्न हुआ तो वह कायोत्सर्ग ही नही है।

अर्जुन माली सुदर्शन श्रावक को जब मारने आया था तब सुदर्शन को उस पर क्रोध आना संभावित था। लेकिन सुदर्शन ने अर्जुन पर क्रोध नही किया, बल्कि अपना मित्र समझा। उसने विचार किया कि अर्जुन परीक्षा ले रहा है कि मुझे क्रोध है या नहीं? मै भगवान् का सच्चा भक्त हू या नही? अतएव हे प्रभो! मै तुमसे यही प्रार्थना करता हू कि अर्जुन मित्र पर मुझे कदापि क्रोध न आव।

उपसर्ग आने पर कायोत्सर्ग करने का महत्त्व यह है कि सुदर्शन को अर्जुन माली पर उस समय क्रोध नहीं आया। अब यह कहा जा सकता है कि ऐसा ही है तो यावज्जीवन कायोत्सर्ग करने की क्या आवश्यकता है ? मर्यादित समय के लिए ही कायोत्सर्ग क्यो न किया जाय? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सम्भव है उपसर्ग मे ही मरण हो जाय। यह बात दृष्टि मे रखकर ही यावज्जीवन कायोत्सर्ग किया जाता है।

कहा जा सकता है कि फिर वह कायोत्सर्ग यावज्जीवन के लिए ही क्यो नही रखा जाता? उपसर्ग से बचने के बाद वह त्याग क्यो नही माना जाता? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मरणकाल समीप न होने पर भी कायोत्सर्ग करना उचित नही है। ऐसा कायोत्सर्ग आत्महत्या की कोटि मे दाखिल हो जाता है। आत्महत्या का पाप भी न लगे और उपसर्ग से बचने के बाद कायोत्सर्ग भग करने का पाप भी न लगे, इसी उद्देश्य से उपसर्ग के समय यावज्जीवन कायोत्सर्ग करने पर भी यह छूट रखी जाती है कि अगर मै उपसर्ग से बच जाऊँ तो मेरे त्याग नही है। उपसर्ग से बचने के बाद शरीर

क्यो न होगी? जब संसार की समस्त वस्तुओं की विशुद्धि हो सकती है तो फिर अतिचार से अशुद्ध आत्मा की विशुद्धि न होने का क्या कारण है?

संसार की समस्त वस्तुएं शुद्ध की जा सकती है और दूसरे लोगो ने इस प्रकार की शुद्धता करके लाभ भी प्राप्त किया है, मगर हिन्दूजाति ने यह शुद्धि नही अपनाई और इसी कारण उसे हानि उठानी पड़ी। हिन्दू जाति ने यह समझ लिया कि एक बार जो अशुद्ध हो गया सो बस हो गया, वह फिर कभी शुद्ध नहीं हो सकता। सोना भी अशुद्ध होता है लेकिन वह शुद्ध कर लिया जाता है। अगर कोई चौकसी (सर्राफ) सोने को शुद्ध करने के बजाय फैक दे और यह समझ ले कि एक बार अशुद्ध हो जाने के बाद उसकी शुद्धि हो ही नही सकती तो, उसका दीवाला निकल जायेगा या नहीं ? वास्तव में यह मानना भूल है कि किये हुए पापों की शुद्धि नहीं हो सकती। पापों की विशुद्धि अवश्य हो सकती है। अगर पापों की विशुद्धि असम्भव होती तो सामायिक प्रतिक्रमण करना भी व्यर्थ हो जाता। पापों की विशुद्धि होती है मगर जैसा पाप हो वैसा ही प्रायश्चित्त होना चाहिए। कपड़े पर जब तक किसी प्रकार की अशुद्धि लगी हो तब तक उसके प्रति घृणा बनी रहती है, मगर कपडा धोकर साफ कर लेने के पश्चात् पहना ही जाता है। इसी प्रकार अपने पापो को कायोत्सर्ग द्वारा धो डालने से आत्मा निष्पाप हो जाता है।

व्रतो मे अतिचार लगने से जो पाप आत्मा के लिए बोझरूप हो जाते है, कायोत्सर्ग द्वारा आत्मा उस बोझ से निवृत्त हो जाता है। कायोत्सर्ग करने पर भी आत्मा पाप से हल्का न हो तो समझना चाहिए कि कायोत्सर्ग में कुछ न कुछ त्रुटि अवश्य रह गई है! दवा लेने पर भी बीमारी न मिटे तो यही समझा जाता है कि या तो दवा में कोई दोष है या दवा लेने वाले में कोई त्रुटि है। इसी प्रकार कायोत्सर्ग करने पर भी आत्मा पाप के भार से हल्का न हो तो समझना चाहिए कि आत्मा ने सम्यक् प्रकार से कायोत्सर्ग नहीं किया है।

कायोत्सर्ग करने से आत्मा के ऊपर लदा हुआ भार उतर जाता है और तब आत्मा को ऐसा आनन्द प्राप्त होता है, जैसे बोझ उतरने पर मजदूर को आनन्द होता है। श्रीस्थानांग सूत्र के चौथे स्थानक में आत्मा के लिए चार विश्रान्ति स्थान बतलाये गये हैं। उनका सार इतना ही है कि जैसे सिर का भार उतर जाने से शान्ति मिलती है उसी प्रकार आत्मा पर लदा हुआ पाप का भार कायोत्सर्ग द्वारा उतर जाने से आत्मा को शान्ति मिलती है। इस प्रकार आत्मा स्वस्थ बनता है और सुखरूप विचरता है। इतना ही नहीं, शांत होकर आत्मा फिर प्रशस्त धर्मध्यान में तल्लीन हो जाता है।

6 प्रत्याख्यान

कायोत्सर्ग करने से आत्मा सुख पूर्वक विचरता है और प्रत्याख्यान करने के योग्य बनता है। प्रत्याख्यान वही कर सकता है जो कायोत्सर्ग करता है। अतएव अब प्रत्याख्यान के विषय में विवेचन किया जाता है।

प्रश्न–पच्चक्खाणेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

उत्तर–पच्चक्खाणेणं आसव दाराइं निरुंभई, पच्चक्खाणेणं इच्छा निरोहं जणयइ, इच्छा निरोह गए णं जीवे सव्व–दव्वेसु विणीय तण्हे सीईभूए विहरइ।

अर्थात्

प्रश्न–भगवन् ! प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर–प्रत्याख्यान करने से (अर्थात् मूलगुण और उत्तरगुण धारण करने से) हिंसा आदि आस्रवद्वार बन्द हो जाते हैं और इच्छा का निरोध हो जाता है। इच्छा का निरोध होने से जीव सब द्रव्यों की तृष्णा से रहित होता है और इस प्रकार शान्तचित्त हो सुखपूर्वक विचरता है।

भगवान् ने जो उत्तर दिया है, उसके आशय पर विचार करने से पहले इस बात का विचार कर लेना आवश्यक है कि कायोत्सर्ग कर लेने पर भी प्रत्याख्यान करने की क्या आवश्यकता है? शरीर संबंधी ममत्व का त्याग करने के उद्देश्य से कायोत्सर्ग किया जाता है। अन्य जनता में मृत्यु का जो प्रबल भय फैला है, कायोत्सर्ग द्वारा उस पर विजय प्राप्त की जाती है। कायोत्सर्ग करने से मनुष्य 'जीवियासा– मरणभयविप्पमुक्कं' अर्थात् जीवन की लालसा और मरण के भय से मुक्त हो जाता है। कायोत्सर्ग से अतीत काल के पापो की शुद्धि होती है और प्रत्याख्यान से भविष्य के पाप रुकते हैं। इस प्रकार कायोत्सर्ग में भूतकालीन पापों की शुद्धि होती है, परन्तु भविष्य

फल देखे जाने बिना किसी भी कार्य में प्रवृत्ति नही हो सकती। इस कथन के अनुसार प्रत्याख्यान करने से क्या फल मिलता है ? यह जानना भी आवश्यक है। प्रत्याख्यान के फल के संबंध मे पूछे गये प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने फरमाया है कि प्रत्याख्यान करने से आस्रव–द्वारो का निरोध होता है।

हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह, यह पांच आस्रव हैं। प्रत्याख्यान इन पांच आस्रवों को रोकता है। जो हिंसा का त्याग करेगा, वह किसी जीव को मारेगा नही और न दुःख ही देगा। वह स्वयं कष्ट सहन कर लेगा, पर दूसरो को कष्ट नहीं पहुंचाएगा। जो असत्य का त्याग करेगा वह किसी के सामने झूठ नही बोलेगा। चोरी का त्याग करने वाला किसी की चीज नही चुराएगा। मैथुन का अथवा परस्त्री का त्याग करने वाला इस पाप मे कदापि नही पडेगा।

अभया रानी ने सुर्दशन सेठ को कितना भय और प्रलोभन दिया? फिर भी सुदर्शन सेठ ने व्यभिचार का सेवन नहीं किया। इसका कारण यही था कि सुदर्शन परस्त्री का त्यागी था। इसी प्रकार परिग्रह का परिमाण करने वाला दूसरे के द्रव्यो पर मन नहीं करेगा और धन आने पर प्रसन्नता का तथा धन जाने पर दुःख का अनुभव नहीं करेगा। परन्तु परिग्रह का सर्वथा त्यागी तो किसी भी प्रकार का परिग्रह नहीं रक्खेगा। इस प्रकार प्रत्याख्यान करने से इच्छा का निरोध हो जाएगा। प्रत्याख्यान का महत्त्व ही यह है कि प्रत्याख्यान करने वाले को अपने त्याग से बाहर की मूल्यवान् वस्तु मिलेगी तो भी वह लेने के लिए तैयार नहीं होगा ओर न उसे स्वीकार करेगा। उदाहरणार्थ–अरणक श्रावक को किसी देव ने कुंडलों की जोड़ियॉ दी थी। वे कुंडल कितने कीमती होगे? फिर भी उसने कुंडल अपने पास नहीं रक्खे। उसने कुंभ राजा को भेट कर दिये। इसका कारण यही था कि कुंडल की जोडी उसके त्याग की मर्यादा के बाहर की वस्तु थी। उसने परिग्रह की मर्यादा कर ली थी। जो परिग्रह का परिमाण कर चुका होगा वह चिन्तामणि या कल्पवृक्ष मिलने पर भी उसे ठुकरा देगा, क्योंकि यह अमूल्य वस्तुएं उसका त्याग भग करने वाली है। इस प्रकार की अमूल्य वस्तुएं भी स्वीकार न करना प्रत्याख्यान का ही प्रताप है।

सभी लोग अगर इच्छा का परिमाण कर ले तो संसार में किसी प्रकार की अशान्ति ही न रहे। आज संसार में जो अशान्ति फैल रही है, वह इस व्रत के अभाव के कारण ही फैल रही है। इस व्रत के पालन न करने के

की तुला में सोहलवी कला भी प्राप्त नहीं कर सकते। तात्पर्य यह कि दिव्य सुख, इच्छानिरोध के सुख के सोलहवें भाग के बराबर भी नहीं है।

वस्तुओं की तृष्णा रोकी जाय और आवश्यकताएं कम की जाएं। ऐसा करने से आत्मा को अनुपम सुख प्राप्त होता है, क्रमशः तृष्णा पर विजय प्राप्त की जा सकती है। अतएव अपनी आवश्यकताएं घटाओ। ज्यों–ज्यों आवश्यकताएं घटाओगे त्यो–त्यो तृष्णा पर विजय प्राप्त होती जायगी और परिणामस्वरूप सुख प्राप्त कर सकोगे। इसके विपरीत आवश्यकताएं जितनी बढाओगे तृष्णा भी उतनी ही बढेगी और तृष्णा बढ़ने से दुःख भी बढ़ेगा। अतएव अगर सुख प्राप्त करने की इच्छा हो तो अपनी आवश्यकताएं कम करो और तृष्णा को जीतो। तृष्णाविजय ही सुख का एक मात्र राजमार्ग है।

प्रत्याख्यान का फल बतलाते हुए भगवान् ने कहा है कि प्रत्याख्यान से आस्रव का निरोध होता है। भगवान् के इस उत्तर से स्पष्ट विदित होता है कि भगवान् ने भी मूलगुणो पर अधिक जोर दिया है, क्योकि मूलगुणों से ही आस्रव का निरोध होता है। हिंसा का निरोध अहिंसा से होता है और असत्य का निरोध सत्य से ही होता है। इसी प्रकार अन्य आस्रवों का निरोध भी मूलगुणों से ही होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् ने मूलगुण रूप प्रत्याख्यान पर अधिक बल दिया है। भगवान् ने कहा है कि प्रत्याख्यान करने से आस्रवद्वारो का निरोध होता है और उससे जीव मुक्ति के सन्निकट पहुंचता है। भगवान् के इस कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्याख्यान आस्रव निरोध के साथ ही पूर्व–कर्मो को भी नष्ट करता है। इस कथन के लिए प्रमाण यह है कि प्रत्याख्यान को मोक्ष का अग माना है। इस विषय मे टीकाकार कहते है–

पच्चक्खाणे वि णं सेविऊणं भावेण जिणवरुद्दिट्ठं।
पत्ताणंता जीवा सासयसोक्खं लहुं मोक्खं ।।

इस प्रकार प्रत्याख्यान से इच्छा का निरोध होता है। इच्छा के निरोध से आत्मा को अत्यन्त लाभ पहुचता है। प्रत्याख्यान करने में भी विवेक की अत्यन्त आवश्यकता है। ऐसा नही होना चाहिए कि बकरी निकालने में ऊट घुस जाय। अर्थात् छोटे पापो का तो प्रत्याख्यान किया जाये और उनके बदले बडे पाप अपनाये जाएं। अतएव प्रत्याख्यान करते समय विवेक रखना चाहिए। अविवेकपूर्वक प्रत्याख्यान करने से लाभ के बदले हानि अधिक होती है। वही प्रत्याख्यान प्रशस्त है जो इच्छा का निरोध करने के लिए किया जाता हो।

इच्छा का निरोध होने से क्या लाभ मिलता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है–इच्छा का निरोध होने से जीव को किसी भी द्रव्य की तृष्णा या लालसा नही रहती। तृष्णा जीव के लिए वैतरणी नदी के समान दुःख दायक है. इसलिए तृष्णा को जीतो। तृष्णा को जीतने के लिए भगवान् ने मार्ग बतलाया ही है कि इच्छा का निरोध करो और इच्छा के निरोध के लिए प्रत्याख्यान करो। इच्छा का निरोध तृष्णा को जीतने का अमोघ उपाय है। आशय यह है कि प्रत्याख्यान से इच्छा–निरोध होता है. इच्छानिरोध से तृष्णा मिट जाती है, तृष्णा मिटने से सताप का शमन हो जाता है और सन्ताप के शमन से जीव को सुखशान्ति प्राप्त होती है। भगवान् ने जगत् के जीवो को सुख का यह मार्ग बतलाया है।

कुछ लोग पूछते है कि प्रत्याख्यान करने से आत्मा सताप से किस प्रकार बच सकता है? इस प्रश्न के उत्तर मे इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि प्रत्याख्यान एक ऐसी दिव्य औषधि है कि उससे तत्काल आत्मा का सताप शात हो जाता है। इसे समझने के लिए एक उदाहरण उपयोगी होगा –

श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर

– एक परिचय –

स्थानकवासी जैन परम्परा में आचार्य श्री जवाहरलाल जी म. सा. एक महान् क्रांतिकारी संत हुए हैं। आषाढ़ शुक्ला अष्टमी संवत् 2000 को भीनासर में सेठ हमीरमलजी बांठिया स्थानकवासी जैन पौषधशाला में उन्होंने संथारापूर्वक अपनी देह का त्याग किया। उनकी महाप्रयाण यात्रा के बाद चतुर्विध संघ की एक श्रद्धांजलि सभा आयोजित की गई जिसमें उनके अनन्य भक्त भीनासर के सेठ श्री चम्पालाल जी बांठिया ने उनकी स्मृति में भीनासर में ज्ञान–दर्शन चारित्र की आराधना हेतु एक जीवन्त स्मारक बनाने की अपील की। तदन्तर दिनांक 29.4.1944 को श्री जवाहर विद्यापीठ के रूप में इस स्मारक ने मूर्त रूप लिया।

शिक्षा–ज्ञान एवं सेवा की त्रिवेणी प्रवाहित करते हुए संस्था ने अपने छह दशक पूर्ण कर लिए हैं। आचार्य श्री जवाहरलालजी म.सा. के व्याख्यानों से संकलित, सम्पादित ग्रंथों को 'श्री जवाहर किरणावली' के नाम से प्रकाशित किया जा रहा है। वर्तमान में इसकी 32 किरणों का प्रकाशन संस्था द्वारा किया जा रहा है इसमें गुंफित आचार्यश्री की वाणी को जन–जन तक पहुंचाने का यह कीर्तिमानीय कार्य है। आज गौरवान्वित है गंगाशहर–भीनासर की पुण्यभूमि जिसे दादा गुरु का धाम बनने का सुअवसर मिला और ज्योतिर्धर आचार्य श्री जवाहरलाल जी म.सा. की कालजयी वाणी जन–जन तक पहुंच सकी।

संस्था द्वारा एक पुस्तकालय का संचालन किया जाता है जिसमें लगभग 5000 पुस्तकें एवं लगभग 400 हस्तलिखित ग्रंथ हैं। इसी से सम्बद्ध वाचनालय में दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक–कुल 30 पत्र–पत्रिकाये उपलब्ध करवाई जाती है। प्रतिदिन करीब 50–60 पाठक इससे लाभान्वित होते हैं। ज्ञान–प्रसार के क्षेत्र में पुस्तकालय–वाचनालय की सेवा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और क्षेत्र में अद्वितीय है।